RNI No. : UPHIN-2009/29369

डाक पंजीकरण : MISC/CPM/01/KPHO/2019-21
प्रधान डाकघर कानपुर–डाक प्रेषण दिनांक 29/30

वार्षिक सदस्यता शुल्क 100/–

# द्रविड़ भारत

www.dbindia.org.in

सामाजिक परिवर्तन का मासिक पत्र

दिसम्बर–2020 | वर्ष – 12 | अंक : 11 | मूल्य : 5/–

संत कबीर दास

संत रविदास जी

घासीदास

बिरसामुण्डा

पेरियार रामास्वामी

छत्रपति शाहूजी महाराज

सन्त गाडगे

महात्मा ज्योतिबा राव फुले

नारायण गुरु

सावित्री बाई फुले

कांशीराम

## सम्पादकीय

**RNI No. : UPHIN-2009/29369**

**संपादक : उमेश्वरी देवी, मो.: 9005204074**
**संरक्षक मण्डल : मा. रामदीन अहिरवार (महोबा),**
**मा. राम अवतार चौधरी (इं. जल संस्थान),**
**मा. छविलाल वर्मा (चरखारी), मा. हरिनाथ राम (दिल्ली), मनीष कुमार मो. 9415053621**
**राज्य ब्यूरो प्रमुख उत्तर प्रदेश : सुनीता धीमान, 414/12, शास्त्री नगर, कानपुर (उ.प्र.), मो. : 9450871741**
**क्षेत्रीय सम्पादकीय कार्यालय :**
**40/69, डी–5, श्यामलाल का हाता, परेड, कानपुर (उ.प्र.), मो. : 8756157631**
**ब्यूरो प्रमुख कानपुर मण्डल :**
**पुष्पेन्द्र गौतम हिन्दुस्तानी, मल्हौसी, औरेया, उ.प्र. मो.: 9456207206**
**हरियाणा राज्य :**
**डा. रमेश रंगा, ग्राम–सराय, औरंगाबाद, पो.–बहादुरगढ़,जिला–झज्जर (हरियाणा),09416347052**
**कानूनी सलाहकार : एड. रामप्रकाश अहिरवार, एड. यू.के. यादव, मोती लाल वर्मा, एड. विजय बहादुर सिंह राजपूत, एड. रमाकान्त धुरिया, रामऔतार वर्मा, एड. सुशील कुमार, कानपुर**
**मध्य प्रदेश राज्य : पुष्पेन्द्र कुमार**
**कार्यालय : ग्रा. व पो.–रामटौरिया, जिला–छतरपुर**
**छत्तीसगढ़ राज्य :**
**दिलीप कुमार कोसले, मो. : 09424168170**
**दिल्ली प्रदेश : C/o अनिल कुमार कनौजिया C-260, हर्ष विहार, हरिनगर एक्सटेंशन पार्ट–III, बदरपुर, नई दिल्ली–44, मो. : 09540552317**
**राजस्थान राज्य : रघुनाथ बौद्ध, श्याम रघु फुट वियर, दुकान नं.–1, गणेश मार्केट, पुलिस चौकी के सामने, अलवर, जिला–अलवर–301001,**
**मो. : 09887512360, 0144–3201516**
**चिरंजीलाल बैरवा (व्यावस्थापक) मेहरा आदर्श विद्या मन्दिर, भीम नगर कालोनी, राज भट्टा, दिल्ली रोड, अलवर, जिला–अलवर, मो.–09829855349**
**बाबूलाल बौद्ध, अलवर, मो.–08058198233**
**संपादकीय/विज्ञापन प्रसार/पंजीकृत कार्यालय :**
**ग्रा व पो.–रिवई (सुनैचा), जिला–महोबा (उ.प्र.)**
**मो. : 9005204074, 8756157631**
**E-mail : dravinbharat1@gmail.com**
**प्रकाशक, मुद्रक एवं स्वामी**
**उमेश्वरी देवी द्वारा ग्रा. व पो.–रिवई (सुनैचा), जिला महोबा से प्रकाशित व श्रेय ऑफसेट प्रा. लि., 109/406, नेहरू नगर, कानपुर, 84/1, बी, फजलगंज, कानपुर से मुद्रित**

प्रकाशित पत्रिका में प्रकाशित लेख, सामग्री, में संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। इसमें किसी भी प्रकार का दावा या विचार मान्य नहीं होगा। लेख के विवादित होने पर लेखक ही उत्तरदायी होगा समस्त विवादों का निपटारा महोबा न्यायालय में होगा पत्रिका का संपादन एवं संचालन पूर्णतयः अवैतनिक एवं अव्यवसायिक है।

**मिशन को बढ़ाने के लिए सहयोग करें –**
**भारतीय स्टेट बैंक, शाखा–नवीन मार्केट, कानपुर**
**खाता सं.–33496621020 • IFSC CODE-SBIN005307**

# बोधिसत्व डॉ. भीमराव अम्बेडकर

अपने बचपन से ही भूख–प्यास, अपमान – अन्याय, अत्याचार–अनाचार और सामाजिक विभीषिकाओं की त्रासदी झेलते हुए और अपने कठोरतम परिश्रम, त्याग, बलिदान एवं लगन के बल पर जिन महापुरूषों ने समय–समय पर भारत के गौरवमय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में अपने–अपने अध्याय जोड़ते हुए नये आयाम–नई दिशाएं सुस्थापित की हैं, उनमें 'भारत–रत्न' बोधिसत्व बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर का नाम प्रमुख है।

यद्यपि डॉ. अम्बेडकर को दलितों के मसीहा तथा भारतीय संविधान के प्रमुख शिल्पी के रूप में ही जाना जाता है, तथापि एक महान राष्ट्रीय एवं सामाजिक चिन्तक, लेखक, पत्रकार, अर्थशास्त्री, धर्मशास्त्री, निपुण राजनीतिज्ञ एवं संविधान विशेषज्ञ, ओजस्वी वक्ता, अभिवक्ता विधिवेत्ता, प्राध्यापक, राजनेता, कुशल प्रशासक, नारी उद्धारक, बौद्ध धर्म का पुनरोद्धारक और मानवतावादी के रूप में भी उनकी सेवाओं ने जो इतिहास रचा है, वह अजर–अमिट है। जो लोग उन्हे मात्र अपने तक सीमित रखना चाहते हैं वे वास्तव मे बाबा साहेब के साथ घोर अन्याय ही करते हैं। ऐसा कदाचित इसलिए भी किया जाता है, क्योकि वे सब उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा बहुआयामी देशसेवा से निश्चय ही पूर्णतः परिचित नहीं हैं। पूज्य बाबा साहेब के महान व्यक्तित्व एवं कृतित्व को वर्ग एवं समुदाय विशेष तक सीमित नहीं किया जा सकता है। वे मात्र एक राजनेता ही नहीं, बल्कि महापुरूष भी थे। वे एक महान राष्ट्रवादी देशभक्त, मानवतावादी, सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत, दलित मानवता के उत्थानकर्ता, समत्व के प्रतीक, जुझारू व्यक्ति और आधुनिक भारत के निर्माताओ मे से एक महान व्यक्ति थे।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर का जन्म मध्य प्रदेश के मऊ छावनी में 14 अप्रैल, 1891 को महार जाति में हुआ था। उनके पिता का नाम रामजी सकपाल तथा माता का नाम भीमाबाई था। अछूत परिवार में जन्म लेने के कारण उन्हें बालावस्था से ही अपनी सामाजिक स्थिति का बोध होने लगा था। अपने पिता तथा बड़े भाई के संरक्षण एवं मार्गदर्शन से ही मेधावी बालक भीमराव ने अपनी तथा अपने जैसे लोगों की स्थिति को सुधारने हेतु भारी संघर्ष द्वारा जो अर्जित किया, उसे संक्षेप में व्यक्त करना संभव नहीं है। फिर भी उनके जुझारू एवं यशस्वी जीवन का ब्यौरा इस प्रकार है :–

### डा0 अम्बेडकर एक दृष्टि में -

- 14 अप्रैल, 1891 : सूबेदार रामजी सकपाल एवं श्रीमती भीमाबाई की 14वीं संतान के रूप मे, मध्य प्रदेश की महू छावनी मे जन्म।
- नवम्बर, 1900 : गवर्नमेंट वर्नाकूलर हाईस्कूल, सतारा में प्रवेश।
- जनवरी, 1908 : मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण।
- जनवरी, 1913 : बी.ए. उत्तीर्ण।
- जुलाई, 1913 : न्यूयार्क विश्वद्यिालय, मे प्रवेश हेतु गायकवाड़ छात्रवृत्ति प्राप्त
- 1915 : एम.ए. उत्तीर्ण।
- 1916 : 'नेशनल डिविडेन्ट ऑफ इण्डिया' पर पी.एच.डी.।
- 1917 – कोलम्बिया विश्वविद्यालय से पी.एच.डी प्राप्त।
- जून 1917 ' महाराजा बड़ौदा (गायकवाड़) के सैन्य सचिव नियुक्त।
- नवम्बर, 1918 : हैडनहम कॉलेज ऑफ कामर्स एण्ड इकोनोमिक्स, बम्बई मे पालिटिकल इकोनोमी के प्राध्यापक नियुक्त।
- जनवरी, 1920 : मराठी साप्ताहिक 'मूकनायक' का प्रकाशन।
- जून, 1923 : हाईकोर्ट आफॅ ज्यूडी केचर, बम्बई में वकालत शुरू।
- जुलाई, 1924 : दलितो के उन्नयन हेतु 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' की स्थापना।
- मार्च, 1927 : चावदार तालाब पर अछूतों को अधिकार दिलाने हेतु महाड़ मे सत्याग्रह
- अप्रैल, 1927 : पाक्षिक 'बहिष्कृत भारत' का प्रकाशन
- जून, 1928 : 'गवर्नमेट लॉ कालेज, बम्बई में लॉ के प्रोफेसर नियुक्त।
- मार्च, 1930 : नासिक के कालाराम मंदिर मे अछूतो को प्रवेशाधिकार दिलाने हेतु सत्याग्रह।
- दिसम्बर, 1930 साप्ताहिक 'जनता' का प्रकाशन
- 1932 : लंदन की 'गोलमेज सभा' के प्रतिनिधि नियुक्त।
- सितम्बर, 1932 ' रैमजे मैकडोनल्ड के कम्युनल एवार्ड मे अछूतों के पृथक निर्वाचन को त्याग कर महात्मा गांधी के साथ 'पूना पैक्ट' पर हस्ताक्षर, संयुक्त निर्वाचन स्वीकार।
- 1932–33 : इण्डिया कॉन्सटीट्यूशन रिफार्म' कमेटी के सदस्य मनोनीत
- जून, 1935 : गर्वनमेट लॉ कालेज, बम्बई के प्राचार्य नियुक्त।
- सितम्बर, 1935 : नासिक जिले के 'वाला' में 'हिन्दू धर्म' त्यागने की घोषणा।
- अगस्त, 1936 : 'इन्डीपेन्डेन्ट लेबर पार्टी' की स्थापनां।
- जनवरी, 1937 : बम्बई लेजिस्लेटिव एसेम्बली के सदस्य निर्वाचित।
- अप्रैल, 1942 : 'आल इण्डिया शैड्यूल कास्ट्रस फेडरेशन' की स्थापना।
- जुलाई, 1942 : गर्वनर जनरल ऑफ इण्डिया की कार्यकारिणी परिषद् में श्रम मंत्री मनोनीत।
- अप्रैल 1945 : 'पीपुल्स एजूकेशन सोसाइटी' की स्थापना।
- 1947 : भारत के संविधान की 'ड्राफिटंग कमेटी' मे नियुक्ति।
- 1947 : नेहरू मंत्रिमण्डल में विधि मंत्री नियुक्त।
- नवम्बर 1948 : भारत के संविधान की 'ड्राफ्टिंग कमेटी' के अध्यक्ष के रूप में संविधान असेम्बली का मसवदा पेश।
- सितम्बर 1951 : 'हिन्दू कोड बिल' तथा अन्य मतभेदों के कारण 'नेहरू मत्रिमण्डल' से त्यागपत्र।
- मई 1952 : राज्यसभा की सदस्यता।
- अक्टूबर 1956 : नागपुर बौद्ध सम्मेलन में बौद्ध धर्म की दीक्षा।
- 6 दिसम्बर, 1956 : दिल्ली में अलीपुर रोड स्थित अपने निवास पर महा प्रयाण।

### प्रमुख कृतियाँ एवं रचनाकाल

1. कास्ट इन इण्डिया (1916)
2. स्मॉल होल्डिंग्स इन इण्डिया एण्ड देयर रेमेडीज (1918)
3. द प्राब्लम ऑफ रूपी (1923)
4. एनिहिलेंशन ऑफ कास्ट (1935)
5. फेडरेशन वर्सेज फ्रीडम (1939)
6. रानाडे, गांधी एवं जिन्ना (1943)
7. कम्यूनल डेडलॉक एण्ड वे टू साल्व इट
8. व्हाट कांग्रेस एण्ड गांधी हैव डन टू अनटचेबल्स (1945)
9. पाकिस्तान एण्ड पार्टीशन आफॅ इण्डिया (1945)
10. स्टेट्स एण्ड माइनारिटीज (1947)
11. हिस्ट्री आफॅ इण्डियन करेन्सी एण्ड बैंकिंग (1947)
12. महाराष्ट्र ऐज ए लिंग्विस्टिक स्टेट (1948)
13. द अनटचेबल्स (1948)
14. थॉट्स ऑन लिग्विस्टिक स्टेट्स (1953)
15. हू वेयर शूद्राज ? (1954)
16. राइज एण्ड फाल ऑफ हिन्दू वूमेन

# सामाजिक निष्क्रियता

हिन्दू समाज के दोषों को व्यक्त करने वाली सामाजिक बुराइया सर्वविदित हैं। मिस मेयो द्वारा प्रकाशित 'मदर इंडिया' में इन बुराइयों का विस्तार से विवेचन किया गया है। परंतु 'मदर इंडिया' ने जहां इन बुराइयों को उजागर करने का सोद्देश्य कार्य किया है और इनके प्रवर्तकों को विश्व न्याय मंच के सामने अपने पापों का उत्तर देने के लिए आहूत किया है, उससे दुर्भाग्यवश विश्व में यह धारण भी बनी है कि जबकि हिंदू इन सामाजिक बुराइयों की कीचड़ में फंसकर पतोन्मुख हो रहे हैं, वहां भारतीय मुसलमान उनसे मुक्त हैं और हिंदुओं की तुलना में अधिक प्रगतिशील हैं। ऐसी धारणा का बनना उन लोगों के लिए आश्चर्यजनक ही है जो भारत में मुस्लिम समाज को बहुत पास से जानते हैं।

कोई भी यह प्रश्न पूछ सकता है कि क्या कोई ऐसी सामाजिक बुराई है जो हिंदुओं में तो है, लेकिन मुसलमानों में नहीं पायी जाती?

बाल–विवाह को ही लें। अखिल भारतीय महिला सम्मेलन (आल इंडिया वूमेंसं कान्फ्रेंस) द्वारा गठित बाल–विवाह विरोधी समिति ने एक समाचार बुलेटिन प्रकाशित किया है, जिसमें देश के विभिन्न समुदायों में प्रचलित बाल–विवाह की स्थिति का विस्तार से ब्यौरा दिया गया है। 1931 की जनगणना रिपोर्ट से जो आंकड़े लिए गए हैं, वे यहां प्रस्तुत हैं:

**तालिका**

**0–15 के आयु वर्ग में प्रति 1000 महिलाओं में विवाहित महिलाएं**

| वर्ष | हिंदू | मुस्लिम | जैन | सिख | ईसाई |
|---|---|---|---|---|---|
| 1881 | 208 | 153 | 189 | 170 | 33 |
| 1891 | 193 | 141 | 172 | 143 | 37 |
| 1901 | 186 | 131 | 164 | 101 | 38 |
| 1911 | 184 | 123 | 130 | 88 | 39 |
| 1921 | 170 | 111 | 117 | 72 | 32 |
| 1931 | 199 | 186 | 125 | 80 | 43 |

क्या बाल–विवाह की दृष्टि से मुसलमानों की स्थिति हिंदुओं से बेहतर मानी जा सकती है?

महिलाओं की स्थिति को लीजिए। मुसलमान इस बात पर जोर देते हैं कि मुस्लिम महिलाओं को मिले कानूनी अधिकार अन्य महिलाओं, उदाहरणार्थ हिंदू महिलाओं को प्राप्त अधिकारों की तुलना में अधिक आजादी सुनिश्चित करते हैं और वे कतिपय पाश्चात्य देशों की महिलाओं को प्रदत्त अधिकारों की तुलना में भी अधिक हैं। यह दावा मुस्लिम कानून के कुछ प्रावधानों को लेकर किया जाता है।

सर्वप्रथम यह कहा जाता है कि मुस्लिम कानून में विवाह के लिए कोई आयु–सीमा निर्धारित नहीं की गई है, और लड़की के इस अधिकार को मान्यता दी गई है कि वह किसी भी समय विवाह कर सकती है। फिर, उस स्थिति के अलावा जबकि विवाह पिता अथवा पितामह ने कराया है, बाल्यावस्था में अन्य विवाहित मुस्लिम लड़की योवनावस्था प्राप्त कर लेने पर अपने विवाह का परित्याग कर सकती है।

दूसरे यह विश्वास किया जाता है कि मुसलमानों में विवाह एक अनुबंध है। अनुबंध होने के कारण पति अपनी पत्नी को तलाक दे सकता है। मुस्लिम कानून ने पत्नी को भी पर्याप्त संरक्षण प्रदान किया है। यदि वह उसका उपयोग करे तो तलाक के मामले में पुरूष की बराबरी कर सकती है। यह दावा किया जाता है कि मुस्लिम कानून के तहत, विवाह के समय अथवा कतिपय मामलों में उसके बाद भी, पत्नी ऐसा अनुबंध कर सकती है जिसके द्वारा वह कतिपय परिस्थितियों के तहत तलाक हासिल कर सकती है।

तीसरे, मुस्लिम कानून में वह व्यवस्था है कि पत्नी अपने को समर्पित करने के एवज में धन अथवा संपत्ति पति से मांग सकती है, जिसे उसके 'मेहर' के तौर पर जाना जाता है। मेहर (एक प्रकार का दहेज) का निर्धारण विवाह के बाद भी किया जा सकता है, और यदि कोई राशि निर्धारित नहीं की गई है तो भी पत्नी समुचित मेहर की हकदार है। मेहर की राशि को सामान्यतः दो भागों में विभाजित किया जाता है। इसमें एक को 'फौरी' कहा जाता है जो मांग करने पर तुरंत देय होती है, और दूसरी है 'मुद्दती' जो मृत्यु अथवा तलाक से शादी के टूटने पर देय होती है। मेहर के लिए पत्नी का दावा पति की संपत्ति पर एक प्रकार का ऋण माना जाता है। उसका अपने मेहर पर पूर्ण अधिकार होता है, जिसका मकसद उसे आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान करना है। वह अपनी इच्छानुसार उक्त मेहर का परित्याग कर सकती है अथवा उसकी आय को विनियोजित भी कर सकती है।

कानून के तो तमाम प्रावधान महिला के पक्ष में होने पर भी मुस्लिम महिला विश्व भर में सर्वाधिक असहाय अवस्था में है। मिस्र के एक मुस्लिम नेता के शब्दों में:

''इस्लाम ने महिला पर हीनता की मोहर लगा दी है तथा सामाजिक प्रथाओं को धर्म की स्वीकृति केकर उसे आत्म–अभिव्यक्ति और व्यक्तित्व के विकास के सभी अवसरों से वंचित कर दिया है।''

किसी भी मुस्लिम लड़की को अपने विवाह को अमान्य करने का साहस नहीं है, यद्यपि इस आधार पर उसे छूट हो सकती है कि वह नाबालिक थी और यह विवाह उसके माता–पिता ने नहीं अन्य लोगों ने कराया था। कोई भी मुस्लिम पत्नी यह उचित नहीं समझेगी कि उसके निकाह के अनुबंध में यह धारा भी शामिल की जाए कि उसे तलाक लेने का अधिकार है। ऐसे में उसका प्रारब्ध यही होगा कि एक बार का निकाह, हमेशा के लिए निकाह। वैवाहिक अनुबंध कैसा भी क्लेशप्रद क्यों न हो, विवाह के बंधन से वह बच नहीं सकती, विवाह को अमान्य नहीं कर सकती, जबकि वहीं पति को बिना कोई कारण दर्शाए ऐसा करने की हमेशा छूट है। 'तलाक शब्द का उच्चारण करने और उसके तीन सप्ताह तक आत्मसंयम का निर्वाह करने के बाद पति को अलग किया जा सकता है। पति की मर्जी की राह में एकमात्र रूकावट मेहर की अदायगी का दायित्व है। यदि मेहर का परित्याग किया जा चुका है या उसका भुगतान किया जा चुका है, तो तलाक का हक उसकी मन की मौज का ही मामला है।

तलाक के मामले में ऐसी उदारता से सुरक्षा की वह अनुभूति नष्ट हो जाती है जो एक महिला के पूर्णतः मुक्त और सुखद जीवन की परमावश्यक आधारशिला है। मुस्लिम महिला के जीवन की यह असुरक्षा उस समय और अधिक बढ़ जाती है, जब उसके पति को बहु विवाह करने और रखैल रखने का कानूनन अधिकार प्राप्त हो जाता है।

मुस्लिम कानून मुसलमानों को चार महिलाओं से एक समय पर विवाह करने की अनुमति देता है। इसे इसलिए कोई असामान्य बात नहीं कहा जाता कि यह व्यवस्था उस हिंदू कानून की तुलना में अधिक प्रगतिशील है जिसमें किसी हिंदू पर इस मामले में कोई रोक नहीं है कि वह कितनी ही पत्नियां रख सकता है। परंतु इस तथ्य को विस्मृत कर दिया जाता है कि चार कानूनी पत्नियों के अलावा मुस्लिम कानून एक मुसलमान को अपनी महिला गुलामों से भी सहवास करने की अनुमति देता है। महिला गुलामों की संख्या के बारे में उस कानून में कुछ भी नहीं बताया गया है। उसे यह भी अधिकार है कि वह बिना किसी रूकावट अथवा कृतज्ञता के उन गुलामों को अपने साथ रख सकता है। उस पर यह बंधन भी नहीं है कि वह उनसे विवाह करे।

बहु विवाह करने तथा रखैल रखने की प्रथा विशेष रूप से मुस्लिम महिला के लिए जिस तरह दुखदायी है, उसका तथा उसके कारण जो अनेक बुराइयां जन्मती हैं उनका समुचित रूप से वर्णन करने के लिए शब्द नहीं मिल पाते। यह सच है कि बहु विवाह और रखैल रखने की स्वीकृति के बावजूद किसी को यह नहीं सोच लेना चाहिए कि मुसलमानों में आम तौर पर ऐसा होता है, फिर भी यह तथ्य तो बना ही रहता है कि ये ऐसे विशेषाधिकार हैं जिनका आसानी से दुरूपयोग करते हुए कोई भी मुसलमान अपनी पत्नी के जीवन में दुखों और कष्टों का विष घोल सकता है। श्री जॉन जे.पूल. जो इस्लाम के शत्रु नहीं है, का कथन है:

''तलाक के मामले में इस छूट का कुछ मुसलमान बहुत अधिक लाभ उठाते हैं। स्टोवार्ट ने इस विषय पर टिप्पणी करते हुए अपनी पुस्तक 'इस्लाम एंड इट्स फाउंडर' में कहा है – कुछ मुसलमानों ने लगातार अपनी बीबियां बदलते रहना अपनी आदत बना ली है। हमने ऐसे नौजवानों के बारे में पढ़ा है जिनकी बीस और तीस पत्नियां हैं। हर तीसरे–चौथे महीने वे एक नई बीबी ले आते हैं, और इस प्रकार ऐसा होता है कि एक पुरूष से दूसरे पुरूष तक महिलाओं को हस्तांतरित करने का निरंतर एक सिलसिला चलता रहता है। उन महिलाओं को कभी एक को पति मानना पड़ता है, तो कभी दूसरे घर का द्वार देखना पड़ता है, अथवा बेसहारा या निराश्रित स्थिति को झेलते हुए तलाक दे दिए जाने का परिणाम भुगतती रहती हैं। जीवनयापन के लिए ऐसे में वह कुछ दूसरे अधिक तुच्छ और निम्न साधनों का सहारा लेती है। इस तरह कानून का अक्षरशः पालन करते हुए और संभवतः एक, अथवा निश्चित रूप से चार, से अधिक पत्नियां न रखते हुए भी घृणित चरित्र वाले लोग तलाक का सहारा लेकर अपने जीवन–काल में चाहे जितनी पत्नियां रख सकते हैं।

एक दूसरे तरीके से भी एक मुसलमान चार से अधिक पत्नियां रख सकता है, और फिर भी कानून के अंतर्गत रह सकता है। यह तरीका रखैलों के साथ रहने का है, जिनकी कुरान ने खुलकर इजाजत दी है। कुरान की जिस 'सूरा' में चार पत्नियां रखने की अनुमति है, ये शब्द भी हैं – 'जिन दासियों को तुमने प्राप्त किया है। फिर 70वीं 'सूरा' में यह बताया गया है कि दासियों के साथ रहना कोई पाप नहीं हैं। वे शब्द ये हैं – वे गुलाम जिन पर उनके दाहिने हाथ का अधिकार उनके दोष का कारण नहीं होंगे। अतीत के समान ही आजकल भी बड़ी संख्या में मुस्लिम परिवारों में गुलाम (दासियां) पाई जाती हैं। जैसा कि मुइर ने अपनी पुस्तक 'लाइफ ऑफ महोमत' में कहा है – 'जब तक दासियों के साथ रहने की यह असीम अनुमति उन्हें प्राप्त रहेगी, तब तक यह आशा नहीं की जा सकती कि मुस्लिम देशों में गुलाम रखने की प्रथा पर रोक का कोई हार्दिक प्रयास होगा।' इस तरह गुलामी के मामले में कुरान मानवता की शत्रु है, और महिलाएं सामान्यतः सर्वाधिक उत्पीड़ित हैं।

जाति प्रथा को लीजिए। इस्लाम मातृ–भाव की बात कहता है। हर व्यक्ति यही अनुमान लगाता है कि इस्लाम दास प्रथा और जाति प्रथा से मुक्त होगा। गुलामी के बारे में तो कहने की आवश्यकता ही नहीं। अब कानूनन यह समाप्त हो चुकी है। परंतु जब यह विद्यमान थी, तो ज्यादातर समर्थन उसे इस्लाम और इस्लामी देशों से ही मिलता था। कुरान में पैगंबर ने गुलामों के साथ उचित और मानवीय व्यवहार किए जाने का सदुपदेश दिया है वह प्रशंसनीय है, लेकिन इस्लाम में ऐसा कुछ भी नहीं है जो इस अभिशाप के उन्मूलन के समर्थन में हो। जैसा कि

सर डब्ल्यू. मूइर ने स्पष्ट कहा है:

.....गुलाम या दासप्रथा समाप्त हो जाने में मुसलमानों का कोई हाथ नहीं है, क्योंकि जब इस प्रथा के बंधन ढीले करने का अवसर था तब मुसलमानों ने उसको मजबूती से पकड़ लिया..... किसी मुसलमान पर यह दायित्व नहीं है कि वह अपने गुलामों को मुक्त कर दे....''

परंतु गुलामी भले विदा हो गई हो, जाति तो मुसलमानों में कायम हैं। उदाहरण के लिए बंगाल के मुसलमानों की स्थिति को लिया जा सकता है। 1901 के लिए बंगाल प्रांत के जनगणना अधीक्षक ने बंगाल के मुसलमानों के बारे में यह रोचक तथ्य दर्ज किए है:

''मुसलमानों का चार वर्गों – शेख, सैयद, मुगल और पठान – में परंपरागत विभाजन इस प्रांत (बंगाल) में प्रायः लागू नहीं है। मुसलमान दो मुख्य सामाजिक विभाग मानते हैं – 1. अशरफ अथवा शरफ और 2. वंशज तथा ऊंची जाति के धर्मांतरित हिंदू शामिल हैं। शेष अन्य मुसलमान जिनमें व्यावसायिक वर्ग और निचली जातियों के धर्मांतरित शामिल हैं उन्हें अजलफ अर्थात नीचा, अथवा निकृष्ट व्यक्ति माना जाता है। उन्हें कमीना अथवा इतर कमीन या रासिल, जो रिजाल का भ्रष्ट रूप है, 'बेकार' कहा जाता है। कुछ स्थानों पर एक तीसरा वर्ग 'अरजल' भी जिसमें आने वाले व्यक्ति सबसे नीच समझे जाते हैं। उनके साथ कोई भी अन्य मुसलमान मिलेगा–जुलेगा न ही और न उन्हें मस्जिद और सार्वजनिक कब्रिस्तानों में प्रवेश करने दिया जाता है।

इन वर्गो में भी हिंदुओं में प्रचलित जैसी सामाजिक वरीयता और जातियां हैं।

**1. 'अशरफ' अथवा उच्च वर्ग के मुसलमान**

i) सैयद ii) शेख iii) पठान
iv) मुगल v) मलिक vi) मिर्जा

**2. 'अजलफ' अथवा निम्न वर्ग के मुसलमान**

i) खेती करने वाले शेख और अन्य वे लोग जो मूलतः हिंदू थे, किंतु किसी बुद्धिजीवी वर्ग से संबंधित नहीं है और जिन्हें अशरफ समुदाय, अर्थात पिराली और ठकराई में प्रवेश नहीं मिला है।

ii) दर्जी, जुलाहा, फकीर और रंगरेज।

iii) बाढ़ी भटियारा, चिक, चूड़ीहार, दाई, धावा, धुनिया, गड्डी, कलाल, कसाई, कुला, कुंजरी, लहेरी, माहीफरोश, मल्लाह, नालिया, निकारी।

iv) अब्दाल, बाको, बेडियां, भाट, चंबा, डफाली, धोबी, हज्जाम, मुचो, नगारची, नट, पनवाड़िया, मदारिया, तुन्तिया।

**3. 'अरजल' अथवा निकृष्ट वर्ग**

भानार, हलालखोदर, हिजड़ा, कसबी, लालबेगी, मोगता, मेहतर।

जनगणना–अधीक्षक ने मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था के एक और पक्ष का भी उल्लेख किया है। वह है 'पंचायत प्रणाली' का प्रचलन। वह बताते हैं:

'पंचायत का प्राधिकार सामाजिक तथा व्यापार संबंधी मामलों तक व्याप्त है और....अन्य समुदायों के लोगों से विवाह एक ऐसा अपराध है, जिस पर शासी निकाय कार्रवाई करता है। परिणामतः ये वर्ग भी हिंदू जातियों के समान ही प्रायः कठोर संगोती हैं, अंतर–विवाह पर रोक ऊंची जातियों से लेकर नीची जातियों तक लागू है। उदाहरणतः कोई धूमा अपनी ही जाति अर्थात धूमा से ही विवाह कर सकता है। यदि इस नियम की अवहेलना की जाती है तो ऐसा करने वाले को तत्काल पंचायत के समक्ष पेश किया जाता है। एक जाति का कोई भी व्यक्ति आसानी से किसी दूसरी जाति में प्रवेश नहीं ले पाता और उसे अपनी उसी जाति का नाम कायम रखना पड़ता है, जिसमे उसने जन्म लिया है। यदि वह अपना विशिष्ट पेशा त्यागकर जीवनयापन के लिए कोई अन्य साधन भी अपना लेता है, तब भी उसे उसी समुदाय का माना जाता है, जिसमें कि उसने जन्म लिया था..... हजारों जुलाहे कसाई का धंधा अपना चुके हैं, किंतु वे अब भी जुलाहे ही कहे जाते हैं।''

इसी तरह के तथ्य अन्य भारतीय प्रांतों के बारे में भी वहां की जनगणना रिपोर्टों से वे लोग एकत्रित कर सकते हैं, जो उनका उल्लेख करना चाहते हों। परंतु बंगाल के तथ्य ही यह दशाने के लिए पर्याप्त हैं कि मुसलमानों में जाति प्रथा ही नहीं, छुआछूत भी प्रचलित है।

इस तरह से यह असंदिग्ध रूप से स्पष्ट है कि भारत में मुस्लिम समाज भी हिंदू समाज में प्रचलित सामाजिक बुराइयों से अछूता नहीं है। वस्तुतः मुसलमानों में हिंदुओं की तमाम सामाजिक बुराइयां तो हैं ही, कुछ और बुराइयां भी है। मसलन एक है मुस्लिम महिलाओं के लिए अनिवार्य पर्दा प्रथा।

पर्दा प्रथा के परिणामस्वरूप, मुस्लिम महिलाओं का अलगाव सुनिश्चित है। महिलाओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे बाहर के कमरों, बरामदों और बगीचों में न आएं। उनका निवास मकान के पिछले भाग में होता है। सभी महिलाओं को चाहे वे जवान हों या वृद्धा, एक ही कमरे में रहना पड़ता है। कोई भी पुरूष नौकर उनकी उपस्थिति में काम नहीं कर सकता। महिला को अपने पुत्रों, भाइयों, पिता, चाचा और पति अथवा किसी ऐसे ही नजदीकी रिश्तेदार को देखने की अनुमति है, वही विश्वासपात्र होने पर घर में प्रवेश पा सकता है। वह इबादत के लिए मस्जिद में भी नहीं जा सकती और जब कभी उसे बाहर जाना होता है तो बुर्का ओढ़ना पड़ता है। ऐसी पृथकता का मुस्लिम महिलाओं के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़े बिना नहीं रह पाता। वे प्रायः खून की कमी, क्षयरोग, पायरिया और कतिपय अन्य रोगों से पीड़ित हो जाती है। उनके शरीर में भी सुघढ़ता नहीं रहती, उनकी कमर झुकती जाती है, हड्डियां निकल आती हैं, हाथ और पांव में खम पड़ जाता है, वे कुरूप हो जाती है। पसलियों, जोड़ों और प्रायः सभी हड्डियों में दर्द रहता है। उनके हृदय की धड़कन बढ़ने का सिलसिला भी प्रायः पाया जाता है। इन सभी कमजोरियों के फलस्वरूप, प्रसूतिकाल में उनकी मृत्यु हो जाती है। पर्दा प्रथा के कारण मुस्लिम महिलाओं का मानसिक और नैतिक विकास नहीं होता। स्वस्थ सामाजिक जीवन से वंचित रहने से उनमें अनैतिकता की प्रवृत्ति आ जाती है। बाहरी दुनिया से पूर्णतः अलग–थलग रहने के कारण उनका ध्यान तुच्छ पारिवारिक झगड़ों में उलझा रहता है। फलस्वरूप वे अपनी सोच में संकीर्ण हो जाती हैं और उनका दृष्टिकोण भी संकुचित हो जाता है।

वे अन्य जातियों की बहनों से पिछड़ जाती है। वे किसी बाह्य गतिविधि में भाग नहीं ले पातीं और उनमें एक प्रकार की दासता और हीनता की मनोवृत्ति बनी रहती है। उनमें ज्ञान प्राप्ति की इच्छा भी नहीं रहती, क्योंकि उन्हें यही सिखाया जाता है कि घर की चारदीवारी के बाहर वे अन्य किसी बात में रूचि न लें। पर्देवाली महिलाएं प्रायः डरपोक, निस्सहार शर्मीली और जीवन में किसी भी प्रकार का संघर्ष करने के अयोग्य हो जाती है। भारत के मुसलमानों में पर्दा करने वाली महिलाओं की विशाल संख्या को देखते हुए कोई भी आसानी से यह समझ सकता है कि पर्दे की समस्या कितनी व्यापक और गंभीर है।

पर्दे का शारीरिक और बौद्धिक प्रभाव भौतिक प्रभाव के मुकाबले काफी कम पड़ता है। वस्तुतः पर्दा प्रथा का मूल पुरूष और महिला दोनों में ही यौन संबंधी इच्छा को लेकर गहन संदेह में निहित है और इसका उद्देश्य स्त्री–पुरूष दोनों को अलग रखकर रोकना ही है। परंतु इस उद्देश्य की प्राप्ति के बजाए पर्दा प्रथा ने मुस्लिम पुरुषों की नैतिकता पर विपरीत प्रभाव डाला है। पर्दा प्रथा के कारण कोई मुसलमान अपने घर–परिवार से बाहर की महिलाओं से कोई परिचय नहीं कर पाता है। घर की महिलाओं से भी उसका संपर्क यदा–कदा बातचीत तक ही सीमित रहता है। बच्चों अथवा वृद्धों के अलावा, पुरुष अन्य महिलाओं से हिल–मिल नहीं सकता, अंतरंग साथी से भी नहीं मिल पाता। महिलाओं से पुरुषों की यह पृथकता निश्चित रूप से पुरूष के नैतिक बल पर विकृत प्रभाव डालती है। यह कहने के लिए किसी मनोवैज्ञानिक की आवश्यकता नहीं कि ऐसी सामाजिक प्रणाली से, जो पुरूषों और महिलाओं के बीच के संपर्क को काट दे, यौनाचार के प्रति ऐसी अस्वस्थ प्रवृत्ति का सजृन होता है जो अप्राकृतिक एवं अन्य दूषित आदतों और साधनों को अपनाने के लिए प्रेरित करती है।

पर्दा प्रथा की बुराई का प्रभाव केवल मुस्लिम समुदाय तक ही सीमित नहीं है। यह हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सार्वजनिक जीवन में अभिशाप बनी सामाजिक पृथकता के लिए भी जिम्मेदार है। यह तर्क अतिशयोक्तिपूर्ण लग सकता है कि इस पृथकता के लिए मुसलमानों की पर्दा–प्रथा के बजाए हिंदुओं की असामाजिक प्रवृत्तियां भी जिम्मेदार हैं, परंतु हिंदू जब यह कहते हैं तो सही ही कहते हैं कि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सामाजिक संपर्क की स्थापना संभव नहीं हो पाती, क्योंकि ऐसे संपर्क से तात्पर्य एक ओर की महिलाओं और दूसरी ओर के पुरूषों के बीच संबंध होना ही होगा।

ऐसा नहीं कि पर्दा और ऐसी ही अन्य बुराइयां देश के कुछ भागों में हिंदुओं के कई वर्गों में प्रचलित नहीं हैं। परंतु अंतर केवल यही है कि मुसलमानों में पर्दा प्रथा को एक धार्मिक आधार पर मान्यता दी गई है, जबकि हिंदुओं में ऐसी स्थिति नहीं है। हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमानों में पर्दा प्रथा की जड़ें गहरी हैं और उसे सामाजिक आवश्यकताओं और धार्मिक अंकुशों के बीच अनिवार्य संघर्ष को झेलकर ही समाप्त किया जा सकता है। मुसलमानों में पर्दा प्रथा, अपने मूल के अलावा, एक वास्तविक समस्या है, जबकि हिंदुओं में नहीं है। मुसलमानों ने इसे समाप्त करने का कभी प्रयास किया हो, इसका भी कोई साक्ष्य नहीं मिलता।

इस तरह भारत के मुस्लिम समुदाय के सामाजिक जीवन में ही नहीं, बल्कि राजनीतिक जीवन में भी एक प्रकार की गतिहीनता है। मुसलमानों को राजनीति में कोई रूचि नहीं है। उनकी मजहब में ही अधिक रूचि है। किसी सीट पर चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशी के समक्ष उसके मुस्लिम क्षेत्र से जो शर्ते रखी जाती हैं, उनसे यह बात आसानी से स्पष्ट हो जाती है। मुस्लिम मतदाता प्रत्याशी के कार्यक्रम पर दृष्टिपात करने की भी परवाह नहीं करते। यह वर्ग प्रत्याशी से मात्र यही चाहता है कि वह मस्जिद के पुराने बल्बों के स्थान पर अपने खर्चे से नए बल्ब लगवा दें, क्योंकि पुराने बल्ब टिमटिमाने लगे हैं, पुराने कालीन की जगह नया कालीन बिछा दें और मस्जिद की मरम्मत करा दें। कुछ स्थानों पर मुस्लिम मतदाता इतने से ही संतुष्ट हो जाते हैं कि प्रत्याशी एक शानदार दावत देने को तैयार हो जाता है, और कुछ इस पर कि वह ऊंचा दांव लगाकर वोट खरीदने को रजामंद हो जाता है। मुसलमानों के लिए चुनाव पैसे का मामला ही है। उन्हें इस बात में रूचि नहीं होती कि यह सामान्य सुधार के सामाजिक कार्यक्रम का साधन बन सकता है। मुस्लिम राजनीति विशुद्ध धर्मनिरपेक्ष श्रेणी के जीवन, अर्थात् धनी और निर्धन, पूंजी और श्रम, भूमिपति और पट्टेदार, पुजारी और जन–सामान्य, तर्क और अंधविश्वास के बीच अंतर बातों पर ध्यान नहीं देती। मुस्लिम राजनीति अनिवार्यतः मुल्लाओं की राजनीति है और वह मात्र एक अंतर को ही मान्यता देती है – हिंदू और मुसलमानों के बीच मौजूद अंतर। जीवन के किसी भी धर्मनिरपेक्ष तत्व का मुस्लिम समुदाय की राजनीति में कोई स्थान नहीं है, और वे मुस्लिम राजनीतिक जमात के केवल एक ही निर्देशक सिद्धांत के सामने नतमस्तक होते हैं, जिसे मज़हब कहा जाता है।

## II

मुसलमानों में इन बुराइयों का होना दुखद हैं। किंतु उससे भी अधिक दुखद तथ्य यह है कि भारत के मुसलमानों में समाज–सुधार का ऐसा कोई संगठित

आंदोलन नहीं उभरा जो इन बुराइयों का सफलतापूर्वक उन्मूलन कर सके। हिंदुओं में भी अनेक सामाजिक बुराइयां हैं। परंतु संतोषजनक बात यह है कि उनमें से अनेक इनकी विद्यमानता के प्रति सजग हैं और उनमें से कुछ उन बुराइयों के उन्मूलन हेतु सक्रिय तौर पर आंदोलन भी चला रहे हैं। दूसरी ओर, मुसलमान यह महसूस ही नहीं करते कि ये बुराइयां हैं। परिणामतः वे उनके निवारण हेतु सक्रियता भी नहीं दर्शाते। इसके विपरीत, अपनी मौजूदा प्रथाओं में किसी भी परिवर्तन का विरोध करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि मुसलमानों ने केंद्रीय असेंबली में 1930 में पेश किए गए बाल विवाह विरोधी विधेयक का भी विरोध किया था, जिसमें लड़की की विवाह–योग्य आयु 14 वर्ष और लड़के की 18 वर्ष करने का प्रावधान था। मुसलमानों ने इस विधेयक का विरोध इस आधार पर किया कि ऐसा किया जाना मुस्लिम धर्मग्रंथ द्वारा निर्धारित कानून के विरूद्ध होगा। उन्होंने इस विधेयक का हर चरण पर विरोध ही नहीं किया, बल्कि जब यह कानून बन गया तो उसके खिलाफ सविनय अवज्ञा अभियान भी छेड़ा। सौभाग्य से उक्त अधिनियम के विरूद्ध मुसलमानों द्वारा छेड़ा गया वह अभियान फेल नहीं हो पाया, और उन्हीं दिनों कांग्रेस द्वारा चलाए गए सविनय अवज्ञा आंदोलन में समा गया। परंतु उस अभियान से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि मुसलमान समाज सुधार के कितने प्रबल विरोधी हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि मुसलमान समाज–सुधार के विरोधी क्यों हैं?

इसका सामान्य उत्तर यह है कि विश्व भर के मुसलमान ही प्रगतिशील नहीं हैं। यह ऐतिहासिक तथ्य है। उनकी सक्रियता के प्रथम स्फुरण के बाद– जिसका स्वरूप निस्संदेह विशाल था और उससे बड़े साम्राज्यों की नींव रखी गई – मुसलमान सहसा ही सुषुप्तावस्था की स्थिति में जा पड़े। ऐसा लगता है कि उस तंद्रा अवस्था से वे कभी नहीं जगे। इस स्थिति के अध्येताओं ने उनकी इस तंद्रा का कारण यह बताया है कि सभी मुसलमानों में यह धारण मूलबद्ध रही है कि इस्लाम एक विश्व–धर्म है, जो प्रत्येक काल और परिस्थिति में सभी लोगों के लिए उपयुक्त है। यह भी प्रतिपादित किया गया है कि:

''मुसलमान ने अपने मज़हब के प्रति आस्थावान रहते हुए प्रगति नहीं की, वह तेजी से आगे बढ़ रही इस आधुनिक दुनिया में भी जड़वत् रहा है। इस्लाम की एक विशेषता यह रही है कि वह जिन जातियों को दास बनाता है, उनकी स्वभावगत बर्बरता को भी अविचल कर देता है। यह सोच में स्थिर है, निश्चेष्ट है और अमेद्य है। यह अपरिवर्तनीय है, और राजनीतिक सामाजिक अथवा आर्थिक परिवर्तनों की उस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती।

यह सिखाए जाने के कारण कि इस्लाम के बाहर कोई सुरक्षा नहीं हैं, उसके कानून के बाहर कोई सच्चाई नहीं है और उसके आध्यात्मिक संदेह से हटकर कोई भी सुख नहीं है, मुसलमान अपनी स्वंय की स्थिति के अलावा और कुछ सोच पाने में असमर्थ हो गए है, इस्लामी विचार के अलावा और कोई विचार उन्हें सुहाता ही नहीं है। मुसलमान को यह पक्का विश्वास है कि वह पूर्णता के असाधारण स्तर पर पहुंच चुका है, कि वही पूर्ण सत्य का अधिकारी है, वही पूर्ण विद्वान है और यह सत्य ऐसा नहीं है जो किसी पुनरावलोकन का मोहताज हो, अपितु यह पूर्ण सत्य है।

मुसलमानों के मजहबी कानून का उन विविधतापूर्ण मनुष्यों पर जिनसे यह दुनिया बनी है, ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनके चिंतन, अनुभूति, विचारों और निर्णय में एकरूपता का प्रादुर्भाव हुआ।

यह तर्क दिया जाता है कि यह एकरूपता उन पर शामक प्रभाव डालती है और यह मुसलमानों को केवल हस्तांतरित नहीं की जाती है, बल्कि असहनशीलता की भावना से उन पर थोपी जाती है, जो इतनी कठोर और हिंसात्मक प्रवृत्ति के रूप में मुस्लिम जगत के बाहर अन्यत्र कहीं भी नहीं पाई जाती और जो इस्लाम धर्म की शिक्षा के विरूद्ध विवेकशील विचारधारा को दबाने में संलग्न है। जैसा कि रेनन ने कहा है:

''इस्लाम में गहन आध्यात्मिक और ऐच्छिक एकता है। इसमें मतांधता का आधिपत्य है। यह एक भरकम कड़ी है जो मानवता ने कभी धारण नहीं की थी..... इस्लाम का मज़हब के रूप में अपना सौंदर्य भी है, ..... परंतु मानवीय तर्क की कसौटी पर इस्लाम हानिकारक ही सिद्ध हुआ है। वे मस्तिष्क जिन्हें इसने बाहरी प्रकाश के लिए बंद कर दिया था, निस्संदेह अपनी स्वयं की आंतरिक सीमाओं में बंद थे, परंतु इसने स्वतंत्र चिंतन का दमन किया है। मैं यह तो नहीं कहता कि इसने अन्य धर्मों की तुलना में अधिक सख्ती से यह किया, परंतु अधिक सफलता से तो अवश्य ही किया। जिन देशों को इसने जीता, उन्हें मानव की तर्कवादी संस्कृति के लिए एक बंद क्षेत्र बना दिया। जो तथ्य मुसलमान में निश्चय ही विशिष्ट है, वह है विज्ञान से उसकी घृणा, उसकी यह सोच कि अनुसंधान उपयोगी नहीं है, तुच्छ तथा लगभग कुफ्र है–प्राकृतिक विज्ञान इसलिए अनुपयोगी है कि उसमें खुदा से प्रतिद्वंद्विता की कोशिश होती है। ऐतिहासिक विज्ञान इसलिए कि उसमें इस्लाम से पूर्व काल का वर्णन होता है जिससे प्राचीन विधर्म पुनर्जीवित हो सकता हैं.....।

रेनन ने उपसंहार स्वरूप कहा है:

''इस्लाम विज्ञान को शत्रुवत मानता है, इसलिए वह स्थिर रह गया और स्थिरता बनी रहना खतरनाक है। इस्लाम स्वंय ही अपने दुर्भाग्य का कारण बना है। विज्ञान की हत्या कर उसने अपनी ही हत्या कर ली है और इस आत्महनन के लिए संसार भर में उसकी भर्त्सना होती है।''

यह उत्तर यद्यपि स्पष्ट है, किंतु सही उत्तर नहीं हो सकता। यदि यही सही होता तो फिर भारत के बाहर सभी मुस्लिम देशों में जो हलचल और अंतक्षोम उभर रहा है, निरख–परख की भावना, परिवर्तन की भावना और सुधार की आकांक्षा जीवन के हर क्षेत्र में परिलक्षित हो रही है, उसकी सफाई हम क्या देंगे? वस्तुतः तुर्की में जो सामाजिक सुधार हुए हैं, वे बेहद क्रांतिकारी स्वरूप वाले रहे हैं। यदि इन देशों के मुसलमानों की राह में इस्लाम बाधक नहीं बना है तो फिर भारत के मुसलमानों की राह में बाधक क्यों बनेगा? भारत में मुस्लिम समुदाय की सामाजिक और राजनीतिक जड़ता का कोई विशेष कारण तो होना ही चाहिए।

वह विशेष कारण क्या हो सकता है? मुझे ऐसा लगता है कि भारत के मुसलमानों में परिवर्तन की भावना के हास का कारण उस विशिष्ट स्थिति में खोजना होगा, जो उसे भारत में प्राप्त है। वह एक ऐसे सामाजिक परिवेश में रह रहा है जो मुख्यतः हिंदू है। यह हिंदू वातावरण सदैव चुपचाप, किंतु सुनिश्चित रूप से उस पर अपना प्रभाव डाल रहा है और उस पर हावी हो रहा है। शनैः शनैः स्वयं पर पड़ने वाले इस प्रभाव से बचाव के लिए वह हर उस चीज को सुरक्षित रखने पर जोर देता है जो इस्लामी है और यह जांचने–परखने की भी चिंता नहीं करता कि यह मुस्लिम समाज के लिए लाभदायक है या हानिकारक। दूसरी बात यह है कि भारत में मुसलमान एक ऐसे राजनीतिक वातावरण में रह रहे हैं जो मुख्य रूप से हिंदू प्रभुत्व वाला है। वह ऐसा महसूस करता है कि उसका दमन होगा और राजनीतिक दबाव मुसलमानों को दलित वर्ग बना देगा। यही वह चेतना है जिसे जगाकर वह स्वयं को हिंदू वर्ग के सामाजिक और राजनीतिक सोच में विलीन होने से बचता है और जो मेरे विचार में भारतीय मुसलमान को अन्य देशों के सहधर्मियों की तुलना में सामाजिक सुधार के मामले में अधिक पिछड़ा बनाए हुए है। उनकी ताकत सीटों और पदों के लिए सतत संघर्ष में ही लगी रही है, जिसके कारण समाज–सुधार से संबंधित सवालों पर सोचने–विचारने का उनके पास समय ही नहीं बच पाता। और यदि कुछ समय मिलता भी है तो वह सांप्रदायिक तनाव की भेंट चढ़ जाता है, वे इस डर से संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए एकजुट होकर अपनी सामाजिक–धार्मिक एकता को हर कीमत पर अक्षुण्ण रखना चाहते हैं कि हिन्दू और हिन्दूत्व उन पर हावी न हो जायें।

भारत के मुस्लिम समुदाय में राजनीतिक गतिरोध के बारे में भी यही स्पष्टीकरण दिया जा सकता है। मुस्लिम राजनीतिज्ञ जीवन के धर्मनिरपेक्ष पहलुओं को अपनी राजनीति का आधार नहीं मानते, क्योंकि उनके लिए इसका अर्थ हिंदुओं के विरूद्ध अपने संघर्ष में अपने समुदाय को कमजोर करना ही है। गरीब मुसलमान धनियों से इन्साफ पाने के लिए गरीब हिंदुओं के साथ नहीं मिलेंगे। मुस्लिम जोतदार जमींदारों के अन्याय को रोकने के लिए अपनी ही श्रेणी के हिंदुओं के साथ एकजुट नहीं होंगे। पूंजीवाद के खिलाफ श्रमिक के संघर्ष में मुस्लिम श्रमिक हिंदू श्रमिकों के साथ शामिल नहीं होंगे। क्यों? उत्तर बड़ा सरल है। गरीब मुसलमान यह सोचता है कि यदि वह धनी के खिलाफ गरीबों के संघर्ष में शामिल होता है तो उसे एक धनी मुसलमान से भी टकराना पड़ेगा। मुस्लिम जोतदार यह महसूस करते हैं कि यदि वे जमींदारों के खिलाफ अभियान में योगदान करते है तो उन्हें एक मुस्लिम जमींदार के खिलाफ भी संघर्ष करना पड़ सकता है। मुसलमान मजदूर यह सोचता है कि यदि वह पूंजीपति के खिलाफ श्रमिक के संघर्ष में सहभागी बना तो वह मुस्लिम मिल–मालिक की भावनाओं को आघात पहुंचाएगा। वह इस बारे में सजग है कि किसी धनी मुस्लिम, मुस्लिम जमींदार अथवा मुस्लिम मिल–मालिक को आघात पहुंचाना मुस्लिम समुदाय को हानि पहुंचाना है और ऐसा करने का तात्पर्य हिंदू समुदाय के विरूद्ध मुसलमानों के संघर्ष को कमजोर करना ही होगा।

भारतीय रियासतों में राजनीतिक सुधारों के प्रति मुस्लिम नेताओं का रूख यह दर्शाता है कि मुस्लिम राजनीति किस तरह विकृत हो गई है। मुसलमानों और उनके नेताओं ने कश्मीर के हिंदू राज्य में प्रतिनिधि सरकार की स्थापना के लिए प्रचंड आंदोलन सरकारों की व्यवस्था लागू किए जाने के घोर विरोधी हैं। इस विचित्र रवैये का कारण बड़ा सीधा सा है। हर मामले में मुसलमानों के लिए निर्णायक प्रश्न यही है कि उसका हिंदुओं की तुलना में मुसलमानों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। यदि प्रतिनिधि सरकार से मुसलमानों को सहायता मिली हो तो वे उसकी मांग करेंगे और उसके लिए संघर्ष भी करेंगे। कश्मीर रियासत में शासक हिंदू है, किंतु प्रजाजनों में बहुसंख्यक मुसलमान हैं। मुसलमानों ने कश्मीर में प्रतिनिधि सरकार के लिए संघर्ष इसलिए किया क्योंकि कश्मीर में प्रतिनिधि सरकार से तात्पर्य है हिंदू राज्य से मुस्लिम अवाम के लिए सत्ता का हस्तांतरण। अन्य मुस्लिम रियासतों में शासक मुसलमान, परंतु अधिसंख्य प्रजाजन हिंदू है। ऐसी रियासतों में प्रतिनिधि सरकार का तात्पर्य होगा मुस्लिम शासक से सत्ता का हिंदू प्रजा को हस्तांतरण। और इसी कारण एक मामले में मुसलमान प्रतिनिधि सरकार की व्यवस्था का समर्थन करते हैं, जबकि दूसरे में विरोध। मुसलमानों की सोच में लोकतंत्र प्रमुखता नहीं है। उनकी सोच को प्रभावित करने वाला तत्व यह है कि लोकतंत्र प्रमुख नहीं है। उनकी सोच को प्रभावित करने वाला तत्व यह है कि लोकतंत्र, जिसका मतलब बहुमत का शासन है, हिंदुओं के विरूद्ध संघर्ष में मुसलमानों पर क्या असर डालेगा। क्या उससे वे मजबूत होंगे अथवा कमजोर? यदि लोकतंत्र से वे कमजोर पड़ते हैं तो वे लोकतंत्र नहीं चाहेंगे। वे किसी मुस्लिम रियासत में हिंदू प्रजा पर मुस्लिम शासक की पकड़ कमजोर करने के बजाए अपने निकम्मे राज्य को वरीयता देंगे।

मुस्लिम संप्रदाय में राजनीतिक और सामाजिक गतिरोध का केवल एक ही कारण बताया जा सकता है। मुसलमान सोचते हैं कि हिंदुओं और मुसलमानों को सतत संघर्षरत रहना चाहिए। हिंदू मुसलमानों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास करते हैं, और मुसलमान अपनी शासक होने की ऐतिहासिक हैसियत बनाए रखने का। इस संघर्ष में शक्तिशाली ही विजयी होगा, और अपना शक्तिशाली होना सुनिश्चित करने के लिए उन्हें पर एक ऐसी चीज का दमन करना अथवा उसे बट्टे–खाते डाल देना होगा जो उनकी एकजुटता में दरार डालती है।

यदि अन्य देशों में मुसलमानों ने अपने समाज को सुधारने का काम शुरू किया है और भारत के मुसलमान ऐसा करने से इंकार करते हैं तो उसका कारण यह है कि अन्य देशों में मुसलमानों का प्रतिद्वंदी समुदायों से कोई सांप्रदायिक और राजनीतिक संघर्ष नहीं है, जबकि भारत के मुसलमानों की इससे स्थिति भिन्न है।

## III

ऐसा नहीं है कि रूढ़िवादिता की यह अंध भावना, जो सामाजिक ढांचे को संवारने की आवश्यकता को ही नकारती है, केवल मुसलमानों पर ही हावी है। हिंदुओं पर भी इसका प्रभाव हुआ है। एक समय हिंदुओं ने यह स्वीकार किया था कि सामाजिक क्षमता के बिना अन्य किसी क्षेत्र में स्थाई प्रगति संभव नहीं है, और हिंदू समाज अपनी कुरीतियों के कारण उत्पन्न भ्रांति के वशीभूत कुशलता की स्थिति नहीं पा सका है, अतएव इन कुरीतियों के उन्मूलन के लिए सतत प्रयास अपेक्षित है। इस तथ्य की मान्यता के फलस्वरूप राष्ट्रीय सोशल कांफ्रेंस का भी गठन हुआ था। कांग्रेस का काम जहां देश के राजनीतिक संगठन में कमजोर पहलुओं को स्पष्ट करना था, वहीं सोशल कांफ्रेंस का काम हिंदू समाज के सामाजिक संगठन के दुर्बल तत्वों का निवारण करना था। कुछ समय तक कांग्रेस और कांफ्रेंस ने एक ही संगठन के दो अंगों की तरह काम किया और उनके अधिवेशन भी एक ही पंडाल में संपन्न होते थे। परंतु शीघ्र ही ये दोनों संगठन दो दल बन गए। एक राजनीतिक सुधार दल और दूसरा सामाजिक सुधार दल के रूप में उभरा और दोनों के बीच भीषण विवाद छिड़ गया। राजनीतिक सुधार दल ने राष्ट्रीय कांग्रेस को समर्थन दिया और सामाजिक सुधार दल ने सोशल कांफ्रेंस का साथ दिया। दोनों संगठन दो विरोधी शिविर बन गए। विवाद का मुद्दा यह था कि क्या समाज–सुधार राजनीतिक सुधार से पहले अपेक्षित है? एक दशक तक इन दोनों शक्तियों के बीच संतुलन बना रहा और इस लड़ाई में कोई भी पक्ष विजेता की स्थिति में नहीं आ सका। परंतु यह स्पष्ट हो गया कि सोशल कांफ्रेंस का भाग्य तेजी से उतार पर आ गया है। जिन भद्रजन ने सोशल कांफ्रेंस के अधिवेशनों की अध्यक्षता की, उन्होंने इस बात पर दुख व्यक्त किया कि शिक्षित हिंदुओं का बहुमत राजनीतिक प्रगति का पक्षधर है और समाज–सुधार के प्रति उपेक्षा भाव अपनाए हुए है, और जब कि कांग्रेस में भाग लेने वालों की संख्या बहुत बड़ी है और जो लोग इसमें शामिल नहीं होते पर उससे सहानुभूति रखते हैं, उनकी संख्या और भी अधिक है, सोशल कांफ्रेंस में शामिल होने वाले लोगों की संख्या बहुत कम होती है। यह उपेक्षा–भाव और समर्थकों की घटती हुई संख्या की स्थिति बनने के बाद शीघ्र ही उसे स्वर्गीय तिलक जैसे राजनीतिज्ञों की सक्रिय विरोध–भावना भी झेलनी पड़ी। कालांतर में राजनीतिक सुधार के पक्षधरों का दल विजयी हुआ और सोशल कांफ्रेंस का अंत हो गया तथा वह विस्मृत हो गई। इसके साथ ही साथ हिंदू समाज से समाज–सुधार की भावना भी विलुप्त हो गई। श्री गांधी के नेतृत्व में हिंदू समाज पागलखाना भले ही नहीं बना, किंतु राजनीति के पीछे तो वह सुनिश्चित रूप से पागल हो ही गया। असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन और स्वराज की पुकार ने समाज–सुधार का ही स्थान प्राप्त कर लिया, जो कभी हिंदुओं के दिमाग में था। राजनीतिक कोलाहल के धूम–धड़ाके में हिंदुओं को यह भी ध्यान नहीं रहा कि ऐसी कोई बुराई भी उनमें है जिसे दूर किया जाना है। जो लोग इस बारे में सजग हैं, वे यह नहीं मानते कि समाज–सुधार भी राजनीतिक सुधार की तरह ही महत्वपूर्ण है और जब उन्हें उसका महत्व स्वीकार करने पर बाध्य किया जाता है तो वे यह तर्क देते हैं कि जब तक पहले राजनीतिक सत्ता प्राप्त नहीं कर ली जाए, तब तक कोई सामाजिक सुधार नहीं हो पाएगा। वे राजनीतिक सत्ता प्राप्ति के लिए इतने अधिक आतुर थे कि समाज–सुधार के पक्ष में प्रचार करने को भी तैयार नहीं थे, क्योंकि उनके विचार में ऐसा करने के लिए राजनीतिक प्रचार से ही समय और शक्ति की कटौती करनी होगी। श्री गांधी के एक प्रवक्ता ने राष्ट्रवादियों के दृष्टिकोण को स्पष्टतया और समुचित तौर पर व्यक्त किया, जब उसने श्री गांधी को यह लिखाः

क्या आप ऐसा नहीं सोचते कि राजनीतिक सत्ता अर्जित किए बिना कोई भी बड़ा सुधार हो पाना असंभव है? वर्तमान आर्थिक ढांचे को सुधारना होगा? राजनीतिक पुनर्निर्माण के बिना किसी तरह का पुनर्निर्माण संभव नहीं है और मुझे डर है कि परिष्कृत और गैर–परिष्कृत चावल, संतुलित आहार और इस तरह की अन्य बातें प्रलाप मात्र ही हैं।

रानाडे के नेतृत्व में संचालित सोशल रिफोर्म पार्टी का अंत हो गया और उसने कांग्रेस के लिए मैदान छोड़ दिया। हिंदुओं में एक अन्य दल उभरा, जो कांग्रेस का ही प्रतिद्वंद्वी है। यह हिंदू महासभा है। इसके नाम से तो कोई भी यही आशा करेगा कि इस संगठन का उद्देश्य हिंदू समाज का सुधार करना है। परंतु ऐसा नहीं है। कांग्रेस से इसकी प्रतिद्वंद्विता का समाज सुधार बनाम राजनीतिक सुधार के मुद्दे से कोई सरोकार नहीं है। कांग्रेस से इसके विवाद का मूल कांग्रेस की मुस्लिम समर्थक नीति में निहित है। इसका गठन मुस्लिम अतिक्रमण के विरुद्ध हिंदू अधिकारों के रक्षार्थ हुआ था और इस नाते इसकी दृष्टि हमेशा राजनीतिक आंदोलनों, गतिविधियों, सीटों और पदों पर लगी रहती हैं। सामाजिक सुधार के लिए इसके पास कोई समय नहीं है। हिंदुओं का एक संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए उत्सुक संगठन होने के नाते यह संस्था नहीं चाहती कि उसके तत्वों में कोई मत वैभिन्य हो, जबकि समाज–सुधार का काम अपने हाथ में लेने से यह हो सकता है। हिंदू जनता को संगठित करने के लिए हिंदू महासभा सभी सामाजिक बुराइयों के यथावत् बने रहने की पीड़ा झेलने को भी तैयार है। हिंदुओं की एकता हेतु यह 1935 के अधिनियम में परिकल्पित संघीय व्यवस्था का स्वागत करने को तैयार है, भले ही उनमें अनेक खामियां और असमानताएं हो। उसी उद्देश्य से हिंदू महासभा भारतीय रियासतों को भी उनके प्रशासन को यथावत् रखते हुए सहने को तैयार हैं। इसके अध्यक्ष का यह युद्ध–घोष रहा है कि हिंदू रियासतों को मत छेड़ो। हिंदू महासभा का यह रवैया मुसलमानों के रवैए से भी अधिक विचित्र है। हिंदू रियासतों में प्रतिनिधि सरकारें हिंदुओं को कोई हानि नहीं पहुंचाएंगी। तो फिर हिंदू महासभा के अध्यक्ष इसका विरोध क्यों करते हैं? संभवतः इसलिए कि इससे मुसलमानों का लाभ होगा, जो वह सहन नहीं कर सकते।

## IV

केंद्रीय विधान सभा में 1939 के मुस्लिम विवाह–अधिनियम को समाप्त करने के बारे में हुई बहस से बेहतर उदाहरण इस बारे में कोई और नहीं हो सकता कि हिंदू और मुसलमान अपने–अपने शक्ति संतुलन के अनुरक्षण की चिंता में कितनी दूरी तक जा सकते हैं।

1939 से पूर्व कानून यह था कि मुस्लिम कानून के अंतर्गत विवाहित पुरुष अथवा महिला के स्वधर्म–त्याग से विवाह उस स्थिति में भंग हो जाता था, जबकि कोई विवाहित मुस्लिम महिला अपना धर्म बदल लेती थी। ऐसे में वह अपने नए धर्म के अनुयायी किसी भी पुरुष से विवाह करने को स्वतंत्र हो जाती थी। साठ वर्ष तक भारत की सभी अदालतों में इस कानून का दृढ़तापूर्वक पालन किया गया।

1939 के अधिनियम VIII द्वारा इस कानून को रद्द कर दिया गया था, जिसकी धारा 4 इस प्रकार हैः

किसी विवाहित मुस्लिम महिला द्वारा इस्लाम धर्म के परित्याग से अथवा उसके इस्लाम धर्म के अलावा किसी अन्य धर्म में धर्मांतरण से स्वतः ही उसका विवाह–विच्छेद नहीं होगा।

बशर्ते कि ऐसे धर्म परित्याग अथवा धर्मांतरण के बाद महिला धारा 2 में उल्लिखित किसी भी आधार पर अपने विवाह–विच्छेद के लिए न्यायालय से आदेश प्राप्त करने की हकदार होगी,

बशर्ते यह भी कि इस धारा के उपबंध उस महिला के मामले में लागू नहीं होंगे, जिसने अपना धर्म त्याग कर इस्लाम धर्म ग्रहण किया था और बाद में फिर अपने पूर्व धर्म को अपना लिया है।

इस अधिनियम के अनुसार, किसी विवाहित मुस्लिम महिला द्वारा कोई अन्य धर्म स्वीकार कर लेने मात्र से ही उसका विवाह भंग नहीं होगा। जो कुछ उसे प्राप्त होता है, वह तलाक लेने का अधिकार ही है यह देखकर परेशानी ही होती है कि धारा 2 में न तो धर्मांतरण को और न ही स्वधर्म त्याग को तलाक का आधार माना गया है। इस कानून का परिणाम यह है कि विवाहित मुस्लिम महिला को अपने आत्मबोध की आजादी नहीं है और हमेशा के लिए अपने उस पति से बंधी रहती है, जिसकी धार्मिक आस्था उसके लिए पूर्णतः घृणास्पद है।

इस परिवर्तन के समर्थन में जो आधार पेश किए गए उन पर भी ध्यान देना अभीष्ट होगा। इस विधेयक को पेश करने वाले काजी काजमी एम.एल.ए. ने परिवर्तन के पक्ष में एक नितांत विलक्षण तर्क पेश किया। विधेयक को पेश करने के संदर्भ में अपने भाषण में उन्होंने कहाः

स्वधर्मत्याग को किसी भी अन्य धर्म के समान इस्लाम ने एक घोर अपराध माना है, जो प्रायः राज्य के विरूद्ध अपराध जैसा ही है। यह प्रावधान रखना इस्लाम धर्म के लिए कोई गौरव की बात नहीं है। यदि हम किसी भी राष्ट्र के पुराने अधिनियमों को देखें तो पाएंगे कि ऐसे ही प्रावधान अन्य संहिताओं में भी उपलब्ध हैं। पुरुष के लिए अधिक कठोर दंड, अर्थात् मृत्युदंड, जबकि महिलाओं के लिए एक मात्र कारावास की व्यवस्था थी। यह मुख्य प्रावधान इसलिए था कि क्योंकि यह पाप है, अपराध है, इसके लिए दंड दिया जाना चाहिए, इसलिए महिला को पत्नी का अधिकार गंवाना पड़ता था। मात्र यही नहीं, अपितु समाज में अपने सभी स्तरों से उसे वंचित होना पड़ता था। उसे अपनी संपत्ति और नागरिक अधिकारों से भी वंचित होना पड़ता था। परंतु हमनें यह पाया है कि 1850 में ही एक अधिनियम पारित किया गया था, जो जातीय अयोग्यता निवारण अधिनियम 1850 का अधिनियम–21 के नाम से जाना जाता था.....।

.....इस अधिनियम द्वारा वह प्रावधान रद्द कर दिया गया जिससे कि महिला द्वारा स्वधर्म त्याग करने पर उसे अपने नागरिक अधिकारों से वंचित कर दिया जाता था। अब उसे अपने नागरिक अधिकारों या अपनी संपत्ति की जब्तगी, अथवा उत्तराधिकार अथवा इसी तरह के किसी अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता है। सवाल केवल यह है कि विधान से उसे यह सहायता मिली, फिर उसे विचार की स्वतंत्रता मिली। उसे यह स्वतंत्रता मिली कि वह अपनी पसंद के किसी धर्म को ग्रहण कर सकती है और जब्तगी की वह धारा हटा दी गई है, जिससे उसे कष्ट उठाना पड़ता था और धर्म–परिवर्तन करने पर अवरोध उत्पन्न होता था। सवाल यह है कि इसके बाद उस महिला के पत्नित्व के अधिकार पर हम कहां तक अंकुश लगा सकते हैं। समाज में उसकी पत्नी–स्थिति महत्वपूर्ण है। वह किसी परिवार का अंग होती है, उसके बच्चे होते हैं, उसके अन्य रिश्ते व संबंध

भी होते हैं। यदि उसका मन–मस्तिष्क उदार व स्वतंत्र है, तो हो सकता है कि वह उसी पुराने धर्म में बने रहना पसंद न करे। यदि वह अपना धर्म बदलती है तो हम अपने आधुनिक विचारों के अनुरूप उस पर और दंड क्यों थोपें कि वह अपने पति की पत्नी नहीं रहेगी। मेरा यह विनम्र मत है कि अब जब हम विचार–स्वातंत्र्य और धर्म–स्वातंत्र्य के पक्षधर बनते हैं और जब हम विभिन्न समुदायों के बीच अंतर्विवाह की वकालत करते हैं तो हमारे लिए ऐसे प्रावधान का समर्थन करना अनुचित होगा कि आस्था या धर्म बदलने मात्र से वह अपने पति की पत्नी होने के अधिकार से भी वंचित हो जाए। अतएव आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि हम किसी भी प्रकार से इस विपरीत सुझाव का समर्थन नहीं कर सकते कि धर्मत्याग से उसे अपने पति की पत्नी होने के अधिकार से वंचित होना पड़े। परंतु यह तो तर्क का एक भाग ही रहा।

पारसी विवाह और तलाक अधिनियम 1936 की धारा 32 के अनुसार, कोई भी विवाहित महिला इस आधार पर तलाक की मांग कर सकती है कि उसका पति पारसी नहीं रहा.....

इससे दो बातें स्पष्ट हैं। पहली यह कि विवाह–विच्छेद का यह आधार किसी धार्मिक विचार अथवा धार्मिक भावना पर आधारित नहीं है, क्योंकि यदि धर्मांतरण के बाद पुरुष अथवा महिला दोनों में से किसी को भी विवाह भंग करने के लिए अभियोग का कोई अधिकार नहीं है। दूसरी बात यह है कि वादी को ही यह शिकायत है कि दूसरे पक्ष ने धर्मांतरण कर लिया है, उसे विवाह भंग करने का अधिकार प्राप्त हो गया है।..... इस अधिनियम के अतिरिक्त अन्य समुदायों के बारे में, हम नेटिव कनवर्ट्स मैरिज डिसोलूशन एक्ट–1886 अधिनियम XXI से विवाह संबंधों पर धर्मांतरण के प्रभाव का जायजा ले सकते हैं.....यह भारत के सभी समुदायों पर लागू होता है और यह कानून इस तथ्य को मान्यता देता है कि किसी भारतीय के मात्र ईसाई हो जाने से ही विवाह नहीं टूट जाएगा, बल्कि उसे न्यायालय में जाना होगा, जहां वह यह कह सके कि दूसरे पक्ष को जिसने धर्मांतरण नहीं किया है, उसके प्रति वैवाहिक दायित्वों को निभाना चाहिए..... तब उन्हें एक वर्ष का समय दिया जाता है और न्यायाधीश उन्हें निर्देश देता है कि कुछ अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति में वे एक–दूसरे से बातचीत करेंगे, ताकि उनमें वैवाहिक संबंध फिर से बहाल हो सके, और यदि वे सहमत नहीं होते तो अपवित्रीकरण के आधार पर विवाह भंग हो जाता। विवाह निस्संदेह टूट जाता है, परंतु आस्था या धर्म बदल लेने मात्र के आधार पर नहीं। अतएव भारत में प्रत्येक समुदाय ने इस मान्य सिद्धांत के अपनाया है कि दूसरा धर्म ग्रहण कर लेने मात्र से ही विवाह–विच्छेद को नहीं माना जा सकता।

असेंबली के एक अन्य मुस्लिम सदस्य और विधेयक के पक्षधर सैयद गुलाम बिख नैरांग ने तो और भी अधिक खुलकर तथा बिना किसी लाग–लपेट के अपनी बात रखी। विधेयक के सिद्धांत के समर्थन ने उन्होंने कहा :

''बहुत लंबे समय से ब्रिटिश भारत में अदालतों ने बेहिचक और बिना किसी शर्त के यह निर्णय दिया है कि समस्त परिस्थितियों में स्वधर्म–त्याग में स्वतः और तत्काल, और बिना किसी न्यायिक कार्यवाही या न्यायालय के निर्णय अथवा किसी अन्य धार्मिक औपचारिकता की बाधा के बिना ही, वैवाहिक स्थिति समाप्त हो जाती है। न्यायालय यही रुख अपनाते रहे हैं। प्रायः इस मुद्दे पर हनफी न्यायविदों के तीन विशिष्ट दृष्टिकोण रहे हैं। इनमें से एक दृष्टिकोण को, जिसे बोखारा न्यायविदों का मत बताया जाता है, स्वीकार कर लिया गया था, उसे पूर्ण रूप से नहीं, बल्कि मेरी राय में उसे तोड़–मरोड़ और काट–छांटकर अपनाया गया है। बोखारा मत के बारे में श्री काजमी और कुछ अन्य वक्ता पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। बुखारा न्यायविदों का कहना है कि विवाह धर्म बदल लेने से टूट जाता है। वास्तव में मैं और अधिक ठोस शब्दों में इसे स्पष्ट कर रहा हूं – मैं अधिकृत रूप से यह कह सकता हूँ कि बुखारा मत के अनुसार विवाह भंग नहीं होता, बल्कि विवाह संबंध निलंबित होता है। विवाह निलंबित हो जाता है, किंतु पत्नी को तब तक हिरासत अथवा किसी की देखरेख में नजरबंद रखा जाता है जब तक कि वह पश्चाताप् नहीं कर लेती और पुनः इस्लाम धर्म स्वीकार नहीं कर लेती, और फिर उसे पति से निकाह के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, जिसका निकाह केवल निलंबित हुआ था, समाप्त अथवा रद्द नहीं। दूसरे मत के अनुसार, धर्मांतरण कर लेने पर मुस्लिम महिला अपने पति की पत्नी नहीं रहती, बल्कि उसकी बंधक स्त्री हो जाती है। एक धारणा जो इसी दृष्टिकोण की परिणति है, यह है कि यह आवश्यक नहीं कि वह अपने पूर्व पति की बंधक स्त्री रहे, अपितु वह समग्र मुस्लिम समुदाय की बंधक स्त्री हो जाती है और कोई भी व्यक्ति उसे एक बंधक स्त्री के तौर पर नौकर रख सकता है। तीसरा मत समरकंद और बलख के उलेमा का है, जिसके अनुसार ऐसे धर्मांतरण से वैवाहिक बंधन प्रभावित नहीं होता और महिला अपने पति की पत्नी बनी रहती है। ये तीन मत है। प्रथम मत के एक अंश बुखारा मत को अदालतों ने मान्यता दी और एक के बाद एक निर्णय इसी अंश पर आधारित रहे।

''इस सभा को यह भली भांति विदित है कि एकमात्र दृष्टांत नहीं है, जहाँ विधान के द्वारा, न्यायिक भूल का परिमार्जन करने की चेष्टा की गयी है। बल्कि दूसरे अनेक मामले भी है, जहाँ न्यायिक भूलें हुई हैं अथवा जहाँ न्यायिक अभिमत विवादास्पद रहा है अथवा विधि में ही अस्पष्टता या अनिश्चयता रही है। न्यायिक अभिमतों में सन्निहित भूलों का विधान द्वारा परिमार्जन निरंतर किया जाता रहा है। परन्तु इस विशिष्ट मामलें में तो भूल दर भूल ही नहीं हुई, भूलों की त्रासदी हुई है। निश्चय ही, यह अनुभव किया जाना चाहिए कि विधेयक के लिए मेरे प्रस्ताव का कदापि यह उत्तर नहीं हो सकता है कि चूंकि उच्च न्यायालयों ने मेरे विपरीत निर्णय दिए हैं, इसलिए इस सभा में उपस्थित होकर इनके संदर्भ में विधेयक बनाने का मेरा आग्रह अनधिकार चेष्टा होगी।''

संशोधन की गूढ़ता को ध्यान में रखते हुए, उसके पक्ष में प्रस्तुत किए गए तर्क बहुत ही तथ्यहीन थे। श्री काजगी यह नहीं समझ सके कि यदि पारसी ईसाई और मुस्लिमों के तलाक से सम्बन्धित विधियों में भिन्नताएं हैं, तब उस स्थिति में धर्मांतरण से प्रामाणिक साबित हो जाने पर, चूंकि मुस्लिम कानून पहले का है, औचित्यपूर्ण बात तो यह होती कि मुस्लिम कानून को पीछे धकेलने की बजाय पारसी और ईसाईयों के कानून को ही उत्तरोत्तर प्रगतिशील बनाया जाता। श्री नैरंग को यह पूछना चाहिए था कि मुस्लिम विधिवेत्तओं की विविध विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में क्या यह अधिक न्यायसंगत नहीं होगा कि उस अधिक प्रबुद्ध दृष्टिकोण को ही स्वीकार किया जाए, जो मुस्लिम महिलाओं की स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान करता है तथा उस असभ्य दृष्टिकोण को अस्वीकार किया जाय जो उन्हें गुलाम बनाता है।

जो भी हो, कानूनी तर्कों का परिवर्तन के वास्तविक उद्देश्यों से कुछ लेना देना नहीं था। वास्तविक उद्देश्य तो किसी महिला का दूसरे धर्म में अवैध धर्मांतरण पर रोग लगाना था ताकि जल्दबाजी में किसी दूसरे धर्म के धर्मावलम्बी उसे नए समुदाय में सम्मिलित कर उसका विवाह न कर दें और वह अपने मूल समुदाय में वापस न हो सके। मुस्लिम महिलाओं के हिन्दू धर्म में धर्मांतरण और हिन्दू महिलाओं के मुस्लिम धर्म में धर्मांतरण का सामाजिक तथा राजनैतिक परिणाम बड़ा भयावह हुआ करता है। इसका कुछ प्रभाव दोनों समुदायों के संख्यात्मक संतुलन पर पड़ता है। महिलाओं का अपहरण कर यह असंतुलन उत्पन्न किया जाता रहा है। उसे नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता कि पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ और तदनुसार उनका विवाह करा देना, मुस्लिमों के द्वारा हिन्दुओं, और हिन्दुओं के द्वारा मुस्लिमों के प्रति सही में विध्वंसकारी कृत्य माना गया है, जिसका उद्देश्य उनके संख्यात्मक अनुपात में परिवर्तन करना रहा है। महिलाओं के अपहरण की यह घृणित प्रथा पशुओं की चोरी की घटनाओं की तरह ही सामान्य हो गयी थी और उसका स्पष्ट प्रभाव सामुदायिक संतुलन पर पड़ रहा था। अतः इसको रोकने के लिए प्रयास किया जाना अपेक्षित था। इस विधेयक के पीछे वास्तविक कारण यही था, जो इस विधेयक की धारा 4 के दो प्रावधानों को देखने से स्पष्ट हो जाता है। परंतुक (1) में हिन्दू, मुसलमानों को यह सुविधा प्रदान करते हैं कि मुस्लिम महिला का हिन्दू धर्म में धर्मांतरण के बावजूद उसके मुस्लिम पति से उसका सम्बन्ध विच्छेद नहीं होगा। परंतुक (2) के अनुसार मुस्लिम हिन्दुओं को यह सुविधा प्रदान करते हैं कि यदि वे विवाहित हिन्दू महिला का धर्मांतरण करें तथा उस महिला का एक मुसलमान से विवाह कर दिया जाये तो, अगर मुस्लिम धर्म को वह महिला त्याग देती है, उस स्थिति में उसका मुस्लिम पति से सम्पन्न हुआ विवाह भी विघटित समझा जाएगा, तथा वह, हिन्दू समुदाय में पुनः प्रवेश कर सकेगी। इस प्रकार कानूनी परिवर्तन के पीछे संपूर्ण मंशा संख्यात्मक अनुपात को संतुलित रखने की ही है, और मात्र इसी उद्देश्य के लिए महिलाओं के अधिकार की बलि चढ़ा दी गयी।

इस बुराई के दो और पहलू हैं, जिन की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है।

एक पहलू यह है कि एक के द्वारा किए जा रहे सामाजिक सुधारों को दूसरे के द्वारा तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। ऐसा सामाजिक सुधार यदि दूसरे समुदाय की प्रतिरोध क्षमता में वृद्धि करता है तब यह तत्काल सामुदायिक विद्वेष का कारण बन जाता है।

स्वामी श्रद्धानन्द एक बड़ी विचित्र घटना का उल्लेख करते हैं। यह घटना उपर्युक्त मानसिकता का सटीक चित्रण करती है। 26 अप्रैल 1926 के ''लिबरेटर में अपने संस्मरण में उन्होंने इस घटना के सम्बन्ध में यह लिखा है :–

''श्री रानाडे इस सामाजिक सभा को, जिसे 'नेशनल' कहा गया, मार्गदर्शन प्रदान करने के लिए वहां मौजूद थे। यह सभा अपने प्रारम्भ से ही सभी क्षेत्रों में हिन्दुओं की एक सभा थी। इस राष्ट्रीय सामाजिक सभा में बरेली के मुफ्ती साहेब एकमात्र मुस्लिम प्रतिनिधि थे। सभा का आरम्भ एक हिन्दू प्रतिनिधि तथा मेरे उस प्रस्ताव से हुआ जिसका सम्बन्ध बाल–विधवाओं के पुन–र्विवाह से था। सनातनी पण्डितों ने मेरे इस प्रस्ताव का विरोध किया। तब मुफ्ती ने सम्बोधित करने हेतु आज्ञा मांगी। इस पर स्व. बैजनाथ ने यह कहा कि प्रस्ताव का सम्बन्ध चूंकि केवल हिन्दुओं से है, उनके बोलने की आवश्यकता नहीं है। इस पर मुफ्ती आग–बबूला हो गए।

''सभापति के लिए बचाव को कोई रास्ता नहीं था, अतः मुफ्ती साहेब को अपनी बात रखने का अवसर दे दिया गया। मुफ्ती साहेब का तर्क था कि चूंकि हिन्दू शास्त्र पुनर्विवाह की अनुमति प्रदान नहीं करते हैं, इसलिए इस पर बल दिया जाना धर्मसम्मत बात नहीं है। दोबारा, जब धर्मान्तरित ईसाइयों और मुसलमानों का हिन्दू में पुनःधर्मांतरण के विषय पर संकल्प आया तब मुफ्ती साहेब ने तर्क प्रस्तुत कर दिया कि जब किसी व्यक्ति ने हिन्दू धर्म का परित्याग कर दिया है तब उसकी पुनर्वापसी को अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।''

एक दूसरा उदाहरण अछूतों की समस्याओं के प्रति

मुसलमानों के दृष्टिकोण को प्रदर्शित करता है। मुसलमान हमेशा से ही दलित समुदायों को तृष्णा से देखते आए हैं तथा यह हिन्दू और मुसलमानों के बीच ईर्ष्या का कारण बना रहता है क्योंकि हिन्दुओं को यह आशंका होती है कि दलित समुदायों को अपने में समाहित कर मुसलमान कहीं अधिक शक्तिशाली न बन जाएं। 1909 में मुसलमानों ने एक दृढ़ कदम उठाया। उन्होंने दलित समुदायों को मतदाता सूचियों के बतौर हिन्दू नामांकित किए जाने पर आपत्ति उठायी। वर्ष 1923 में श्री मोहम्मद अली ने कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से अपने भाषण में 1909 ई. में मुसलमानों के प्रस्थापित दृष्टिकोण से अधिक आगे बढ़कर नयी प्रतिस्थापनाएं कीं। उन्होंने कहा :–

''अलामस और पीपल के दरख्तो और बाजे–गाजे वाले जुलूसों के सम्बन्ध में बचकाना विवाद हुआ करते हैं, किंतु एक प्रश्न जरूर है कि यदि साम्प्रदायिक गतिविधियों को मैत्रीपूर्ण ढंग से सुलझा नहीं लिया जाता है तो उससे सहज ही गैर–दोस्ताना व्यवहार की जमीन तैयार हो जाती है। यदि हिन्दू दलितों को तेजी से समाहित नहीं कर लेते तब यह उन समुदायों के धर्मांतरण का प्रश्न बन जाएगा। ईसाई उनका धर्मांतरण कर रहे हैं, और इस सम्बन्ध में प्रश्न कोई नहीं उठाता है। किन्तु किसी मुस्लिम सामाजिक संगठन को इस कार्य के लिए जैसे ही गठित किया जाएगा, हिन्दू समाचारपत्रों में हो–हल्ला शुरू हो सकता है। एक अत्यन्त ही धनाढ्य तथा प्रभावशाली सज्जन ने, जो दलितों के धर्मांतरण के लिए व्यापक पैमाने पर धर्मांतरण करने वाली संस्था का गठन कर सकते हैं, मुझे बताया है कि अग्रणी हिन्दुओं के साथ सहमति हो सकती है कि देश को अलग–अलग क्षेत्रों में बांट दिया जाय जिनमें धर्मांतरण का कार्य मुसलमान और हिन्दू अलग–अलग कर सकें। प्रत्येक सम्प्रदाय वर्षवार, अथवा इससे अधिक अवधि के भीतर, कितने लोगों का धर्मांतरण कर सकता है या अपने भीतर समाहित कर सकता है, इसकी तफसील तैयार करे। इन तफसीलों का यह आधार होगा कि प्रत्येक संप्रदाय कितने कार्यकर्त्ता और कितना धन लगा सकता है और पूर्व वर्ष के इनके वास्तविक आंकड़ों के आधार पर इनकी जांच की जा सकती है। इस विधि से दोनों ही सम्प्रदाय अपने में समाहित करने या धर्मांतरण करने का कार्य करने के लिए स्वतंत्र रहेंगे, या अन्य सुधारवादी कार्य भी वे कर सकेंगे, और उनके बीच टकराव की कोई सम्भावना नहीं रहेगी। मैं इस सुझाव को फिलहाल ईमानदारी और स्पष्टता के साथ रख सकता हूँ, परन्तु मेरे हिन्दू भाई इस सुझाव के प्रति कैसा रुख अपनाएँगे, यह मैं नहीं कह सकता। मैं अपनी ओर से जो कुछ भी कर रहा हूँ वह यह कि बड़ौदा स्टेट में तथा मध्य प्रान्त के गोंड लोगों के बीच काली पूजा का हमने जो रूप देखा है, वह हम सभी के लिए अपमानजनक है। यदि हिन्दू लोग दलित समुदायों को अपने में समाहित नहीं कर लेते हैं, तब दूसरे उन्हें अपने धर्म में धर्मांतरित कर लेंगे और यही किया भी जाना चाहिए और इसी परिस्थिति में कट्टरवादी हिन्दू भी उन्हें अछूत मानना छोड़ेंगे। धर्मांतरण एक शक्तिशाली रासायनिक प्रक्रिया की तरह उनका कायाकल्प करता हुआ प्रतीत होता है। पर क्या यह धर्मांतरण का प्रोत्साहन नहीं है?

इसका अन्य पहलू वे तैयारियाँ हैं, जो हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के विरूद्ध जोर–शोर से कर रहे हैं। यह दो राष्ट्रों के बीच सामाजिक युद्धास्त्रों की होड़ की तरह है। यदि हिंदुओं के पास काशी हिन्दू विश्वविद्यालय है, तो मुसलमानों के पास भी एक अलीगढ़ विश्वविद्यालय होना ही चाहिए। हिन्दू यदि शुद्धि आन्दोलन आरम्भ करते हैं, तो मुसलमान निश्चय ही 'तबलीग' आन्दोलन छेड़ेंगे। हिन्दू यदि संगठन बनाते हैं तो इसके जवाब में मुस्लिम 'तनजीम' स्थापित करते हैं। अगर हिन्दुओं का राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ है, तब मुसलमानों का भी मुस्लिम खाकसार है। सामाजिक युद्धास्त्रों तथा सज्जाओं को होड़ को जिस दृढ़ता और जिन आशंकाओं से संचालित किया जा रहा है, वह राष्ट्रों के बीच संघर्ष का लक्षण है। प्रतीत होता है कि दोनों ही राष्ट्र एक दूसरे की तैयारियों की समीक्षा करते रहते हैं और युद्ध जैसी तैयारियाँ कर रहे हैं। मुसलमान समझते हैं कि हिन्दू उन्हें अधीनस्थ बना रहे हैं और हिन्दू अनुभव करते हैं कि मुसलमान उन पर पुनर्विजय करना चाह रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ही युद्ध की तैयारी में संलग्न है और एक दूसरे की तैयारियों पर नजर रखते हैं।

इस प्रकार की स्थिति अनिष्टकारी होगी। यह एक दुश्चक्र है। मुसलमान हिन्दुओं के सशक्त होने पर अपने लिए खतरा महसूस करते हैं। खतरे से निपटने के लिए वे अपनी शक्ति में वृद्धि करने का प्रयास करते हैं। फिर उनकी स्थिति से संतुलन प्राप्त करने के लिए यही सब हिन्दू करते हैं। जैसे–जैसे ये तैयारियाँ बढ़ती हैं, उनमें संदिग्धता, षड्यंत्र और गोपनीयता भी बढ़ती जाती है। शांतिपूर्वक सुलझाव की सम्भावनाएँ शुरू में ही नष्ट हो जाती है, और चूंकि प्रत्येक व्यक्ति इससे भयाक्रांत रहता है तथा इसके लिए तैयारी भी करता रहता है, दोनों सम्प्रदायों के बीच युद्ध अवश्यम्भावी प्रतीत होता है। इस तरह जिन परिस्थितियों में हिन्दू और मुसलमान अपने को पाते है, सिवाय इसके कि एक दूसरे की चुनौती से निबटने की तैयारियाँ वे करते रहें, और कर ही क्या सकते हैं? यह संघर्ष अस्तित्व बनाए रखने के लिए है, और मुख्य मुद्दा भी यही है, न कि अस्तित्व का स्तर तथा गुणवत्ता।

निश्चय ही इस चर्चा से दो तथ्य उभरते हैं। एक तो यह है कि, हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे को खतरे की दृष्टि से देखते हैं और दूसरा यह कि खतरों का सामना करने के क्रम में, सामाजिक कुरीतियों को, जिनसे कि वे पीड़ित हैं, दूर करने के उद्देश्य को ही उन्होंने टाल दिया है। क्या यह वांछनीय स्थिति है? यदि वह वांछनीय नहीं है, तब इसे कैसे, खत्म किया जाए?

यह कोई नहीं कह सकता कि सामाजिक सुधारों से सम्बन्धित समस्याओं को दरकिनार कर देना औचित्यपूर्ण बात होगी। स्वस्थ राजनीतिक संरचना की यह अपेक्षा होती है कि सामाजिक कुरीतियों का, उत्पीड़न और अन्याय का प्रतीक बन जाने के पहले ही, उन्मूलन कर दिया जाये क्योंकि कहीं भी आर्थिक और सामाजिक कुरीतियाँ ही पतन अथवा क्रांति की जनक होती है। यह विवाद का विषय हो सकता है कि पहले राजनीतिक पुनःनिर्माण हो या पहले सामाजिक पुनर्निर्माण हो। किन्तु इस तथ्य पर मतांतर नहीं हो सकता कि राजनीतिक सत्ता का उपयोग, आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण के निमित्त किया जाना चाहिए। राजनीतिक सत्ता के लिए किया जा रहा पूरा संघर्ष बेमानी और व्यर्थ ही होगा यदि इस संघर्ष के सम्बन्ध में यह अनुभूति न हो कि राजनीतिक सत्ता के अभाव में ही सामाजिक कुरीतियों के कारण हमारे समाज में घुन लग गया है और वह नष्ट होता जा रहा है। किन्तु मान लीजिए कि हिन्दू और मुसलमान किसी प्रकार राजनीतिक सत्ता के स्वामी बन जाते हैं तो इससे यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे इस सत्ता का उपयोग सामाजिक पुनः निर्माण के लिए करेंगे ही? इस सम्बन्ध में कोई आशा नहीं की जा सकती। जब तक मुसलमान और हिन्दू एक दूसरे के लिए खतरा ही बनते रहेंगे, उनका पूरा ध्यान खतरों का सामना करने में ही बंटा रहेगा। मुसलमानों के खिलाफ हिन्दुओं का और हिन्दुओं के खिलाफ मुसलमानों का संगठित होते रहना जब तक कायम है, तब तक निश्चित रूप से सामाजिक पुनःनिर्माण की बात दबी रहेगी। न तो हिन्दू और न ही मुसलमान आर्थिक और सामाजिक कुरीतियों के बहते हुए नासूर की ओर अपना ध्यान फेरेंगे जिसकी कि तत्काल आवश्कता है क्योंकि उनकी समझ में सामाजिक पुनः निर्माण का कदम, निश्चित रूप से मतभेद और विभाजन पैदा कर देगा जब कि एक दूसरे से सम्प्रदाय के खतरों का सामना करने के लिए उन्हें अपनी एकता ही मजबूत करना चाहिए। यह निर्विवाद है कि जब तक एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को खतरा मानता रहेगा, तब तक कोई सामाजिक प्रगति नहीं की जा सकेगी और दोनों के ही विचारों और कार्यकलापों पर रूढ़िवादिता का बोलबाला रहेगा।

कब ये खतरे समाप्त होंगे? जब तक हिन्दू और मुसलमान एक ही संविधान के अंतर्गत एक ही देश में रहते, यह खतरा कायम रहेगा क्योंकि दोनों सम्प्रदायों पर एक संविधान लागू होने में यह आशंका है कि अपने आरम्भ के काल में स्थापित संतुलन के समाप्त होने पर– जो अवश्यभावी है – मुसलमान और हिन्दू एक दूसरे को फिर अपने लिए खतरा समझने लगेंगे। यदि यही होना है तो स्पष्ट उपचार पाकिस्तान ही है। खतरों के मुख्य कारक को यह समाप्त कर देता है। पाकिस्तान का निर्माण हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही एक दूसरे की गुलामी और अनधिकृत आक्रमण की आंशका से मुक्त कर देता है। इससे हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के लिए अलग–अलग संविधान का प्रावधान हो जाता है, जिससे दैनिक जीवन में संतुलन कायम रखने के लिए चल रहे लगातार संघर्ष का आधार ही समाप्त हो जाता है। सामाजिक महत्व के अत्यावश्यक विषयों को, जिन्हें इस समय वे बक्से में बंद कर देने को बाध्य हैं, लेकर अब उन्हे अपनी जनता के जीवन में सुधार लाने का अवसर प्राप्त हो जाता है। आखिर स्वराज्य के लिए यह जो संघर्ष चलाया जा रहा है, उसका लक्ष्य भी तो यही सुधार है।

किसी ऐसी व्यवस्था की अनुपस्थिति में हिन्दू और मुसलमान ऐसी क्रिया और प्रतिक्रिया करते रहेंगे, मानों वे दो अलग–अलग राष्ट्र हैं। दोनों आशंकित रहेंगे कि दूसरा उन पर विजय तो प्राप्त नहीं कर लेता। सामाजिक पुनः निर्माण के बजाय हमेशा आक्रमण की तैयारियों को तरजीह दी जाती रहेगी तथा इस प्रकार सामाजिक यथास्थिति बनी रहेगी। किसी को इस पर आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह बहुत ही स्वाभाविक बात है। जैसा कि जार्ज बर्नार्ड शॉ ने इंगित किया है –

एक विजित राष्ट्र कैंसर–ग्रस्त मनुष्य की तरह होता है; वह अन्य किसी विषय पर नहीं सोच सकता है। .....। एक स्वस्थ राष्ट्र अपनी राष्ट्रीयता के विषय में उसी प्रकार अचेत रहता है जिस प्रकार एक स्वस्थ मनुष्य अपनी हड्डियों के विषय में। परन्तु यदि किसी राष्ट्र की राष्ट्रीयता को आप भंग कर देते हैं, तब उसकी चिंता इसे पुनः स्थापित करने की होगी। वह तब किसी सुधारक की बात पर ध्यान नहीं देगा, किसी दार्शनिक की बात नहीं सुनेगा, किसी धर्मोपदेशक की बात नहीं मानेगा, जब तक कि उसकी राष्ट्रीयता की मांग स्वीकृत नहीं हो जाती। वह एकता स्थापित करने और मुक्ति प्राप्त करने के कार्यों के अतिरिक्त सभी अत्यावश्यक कार्यों की अवहेलना करेगा।

जब तक हिंदुओं से अपने को अलग रखने की मांग करने वाले मुसलमानों का पृथक राष्ट्र के रूप में एकीकरण नहीं हो जाता, और अपने ऊपर दूसरे के अधिपत्य हो जाने की आशंका से दोनों को ही मुक्ति नहीं मिल जाती, सामाजिक निष्क्रियता की इस बुराई को दूर नहीं किया जा सकता। इस बात में संदेह की गुंजाइश नहीं है।

**साभार :**

**बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय खण्ड–15, पेज संख्या 217 से 243 तक**

**डॉ. बी. आर. अम्बेडकर**

# अखिल भारतीय अनुसूचित जाति/जन जाति और बुद्धिस्ट भा.जी.बी. निगम कर्मचारी कल्याण संघ के तत्वाधान में

सेवा में,

नाम .....

पता .....

.....

.....

26 नवम्बर संविधान दिवस के उपलक्ष्य में संगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें श्रधेय हरि नाथ कुमार क्षेत्रीय महासचिव ने संविधान की मूल भावना धर्म निरपेक्ष समता मूलक समाज की स्थापना करना अपने भाषण में बताया एवं संविधान की प्रस्तावना को पढ़ कर संविधान के अनुसार चलने की निगम के अधिकारियों/कर्मचारियों को शपथ दिलाई। साथ ही साथ स्टाल लगाकर का प्रातः 10:30 से शाम 4:00 बजे तक आम जनमानस को चाय, बिस्कुट व पानी का वितरण किया गया। संगोष्ठी का शुभारम्भ भारतीय जीवन बीमा निगम के श्रद्धेय एम.आर.शर्मा वरिष्ठ मंडल प्रबंध जी द्वारा किया गया। सभा में श्रद्धेय जगजीवन राम, श्रद्धेय संतोष कुमार, विनोद कुमार, राम अवध, रघुनन्दन प्रसाद, आर. के. आजाद, रवि मोहन सोनकर, राकेश कुमार, प्रमोद कुमार, सुरेन्द्र गौतम, राजेन्द्र प्रसाद एवं अन्य निगम के बहुत से साथी शामिल हुए।

**6 दिसम्बर को डा. भीमराव अम्बेडकर जी का परिनिर्वाण दिवस मानाया गया। भारतीय जीवन बीमा निगम के अधिकारियों/कर्मचारियों की ओर से भावभींनी श्रद्धांजलि अपर्ति की गई।**

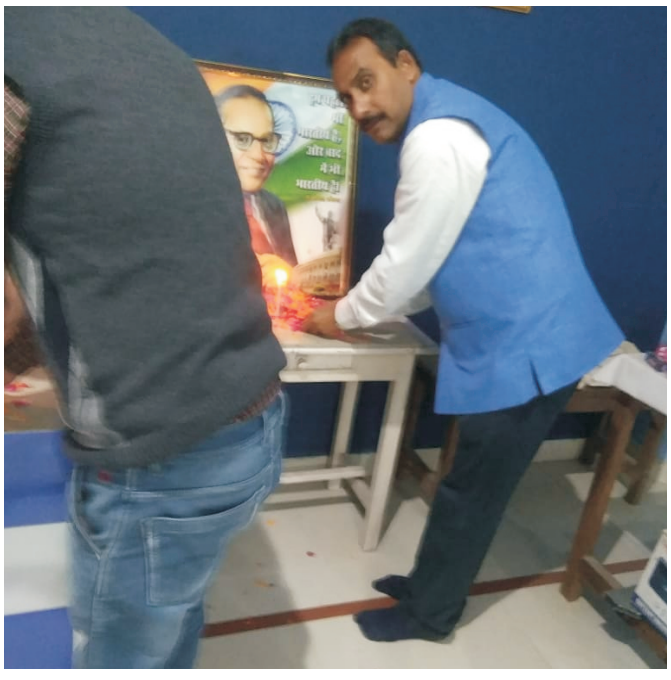

**द्रविड़ भारत परिवार की ओर से** बोधिसत्व डा. भीमराव अम्बेडकर के परिनिर्वाण दिवस के अवसर पर उन्हे **भावभींनी श्रृद्धांजलि**